श्रीहरिः

ग्राहक बननेवालोंको शीघ्रता करनी चाहिये।

श्रीसंत-अङ्क

श्रीसन्त-अङ्ककी बहुत थोड़ी प्रतियाँ शेष बची हैं अतः जो सज्जन ग्राहक बनना चाहें वे जरा जल्दी करेंगे तो उन्हें श्रीसन्त-अङ्क अभी मिल जायगा। नहीं तो दुबारा छपनेतककी राह देखनी पड़ेगी।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

कल्याण कार्तिक संवत् १९९४ की

भूल-सुधार

'संत-अंक' में प्रकाशित जीवनियोंके सम्बन्धमें कई महानुभावोंने कुछ संशोधन लिख भेजे हैं, उन महानुभावोंके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए हम उनका सार यहाँ छापते हैं—

१—संत-अंक पृष्ठ ८२७ लेख शार्षक श्रीकोतनीस महाराज—(क) 'ये ऋग्वेदी गौड़ सारस्वत ब्राह्मण थे' ऐसा छपा है, इसकी जगह 'ये ऋग्वेदी देशस्थ वैष्णव ब्राह्मण थे', ऐसा पढ़ना चाहिये।

(ख) 'चिमड़के श्रीभाऊ महाराज यरगदीकरसे इन्होंने मन्त्रदीक्षा ली थी' की जगह 'चिमड़के श्रीरामचन्द्रराव महाराज यरगट्टीकरसे इन्होंने मन्त्रदीक्षा ली थी' ऐसा पढ़ना चाहिये।

२—संत-अंक पृष्ठ ८२६ 'श्रीरामचन्द्र महाराज टक्की' शीर्षक लेखमें—(क) 'टक्की'की जगह 'टाकी' पढ़ना चाहिये।(ख) आपने सन् १९११ में पेंशन ली थी, सन् १९१९में नहीं। (ग) आपका देहावसान सन् १९३५ में हुआ था, १९३६ में नहीं।

३—संत-अंक पृष्ठ ७०१ 'स्वामी केशवानन्दजी' शीर्षक लेखमें—

(क) श्रीकेशवदिग्विजय नामक ग्रन्थ स्वामीजीके शिष्य विद्वद्वर स्वामी श्रीप्रकाशानन्दजीने रचा था, स्वयं स्वामीजीने नहीं। (ख) श्रीस्वामीजी महाराज 'उदासीन-सम्प्रदाय' के अपूर्व विद्वद्रत्न थे, अतः 'संन्यास' के स्थानमें 'औदास्य' शब्द पढ़ना चाहिये। संन्यास शब्द केवल दशनामी संन्यासियोंमें ही लोकप्रसिद्ध है।

४—संत-अंक पृष्ठ—५७० 'अष्टछापके संत' शीर्षक लेखमें महात्मा 'सूरदासजी' के सम्बन्धमें छपा है कि वे सारस्वत ब्राह्मण थे। इसके विरुद्ध एक महानुभाव लिखते हैं कि वे ब्रह्मभट्ट (ब्रह्मराव) कुलके थे। दोनों ही बातें लोग मानते हैं। 'कल्याण' को इसमें कोई विवाद नहीं करना है, 'कल्याण' तो उन्हें भक्तके नाते पूजता है, फिर वे चाहे सारस्वत ब्राह्मण रहे हों या ब्रह्मभट्ट।

५—पृष्ठ ८०३ के सामने स्वामी श्रीगुप्तानन्दजीके नामसे एक चित्र छपा है इसमें 'स्वामी' की जगह 'अवधूत' पढ़ना चाहिये।

६—संत-अंक तृतीय खण्ड पृष्ठ ७५७ में 'संत महात्मा श्रीरामचन्द्रजी' शीर्षक लेखके अन्तमें छपा है 'आजकल आपके अनुयायियोंका मुख्य केन्द्र रामाश्रम सत्संग, एटा है।' इसपर हमारे पास कई पत्र आये हैं उनमें लिखा है कि 'प्रधान केन्द्र एटा नहीं, फतेहगढ़ है। वहीं आपका जीवन बीता, वहीं समाधि है, और ईस्टरकी छुट्टीमें प्रतिवर्ष वहीं भण्डारा होता है। सत्संगियोंकी सुविधाके लिये सत्संगकी शाखाएँ—कानपुर, फतेपुर, जैपुर, शाहजहाँपुर, सिकन्दराबाद, कमालगंज, एटा, उरई, राजगढ़ (अलवर), चाटसू, रखटी आदिमें हैं, परन्तु मुख्य स्थान फतेहगढ़ ही है जहाँ आपके सुयोग्य पुत्र श्रीजगमोहननारायणजी सत्संग-आश्रमका सञ्चालन करते हैं।' पाठकगण भूल सुधार लें।

—सम्पादक

नयी पुस्तकें

गोस्वामी तुलसीदासजीविरचित

कवितावली

हिन्दी-अनुवादसहित

(अनुवादक-इन्द्रदेवनारायणजी)

साइज सुपररायल सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या २४०, चार सुन्दर तिरंगे चित्र, मूल्य केवल ॥ ‍)

प्रस्तुत पुस्तकमें श्रीगोस्वामीजी महाराजने रामायणकी तरह ही सात काण्डोंमें श्रीरामलीलाका वर्णन किया है। बालकाण्डमें बालरूपकी झाँकी, बाललीला, धनुर्यज्ञ, परशुराम-लक्ष्मण-संवाद, अयोध्या-काण्डमें वन-गमन, गुहका पादप्रक्षालन, वनके मार्गमें, वनमें, अरण्यकाण्डमें मारीचानुधावन, किष्किन्धामें समुद्रोल्लंघन, सुन्दरकाण्डमें अशोकवन, लंकादहन, सीताजीसे विदाई, भगवान् रामकी उदारता, लंकाकाण्डमें राक्षसोंकी चिन्ता, त्रिजटाका आश्वासन, समुद्रोत्तरण, अङ्गदजीका दूतत्व, रावण और मन्दोदरी, राक्षस-वानर-संग्राम, लक्ष्मण-मूर्छा, युद्धका अन्त, उत्तरकाण्डमें रामकी कृपालुता, केवल रामहीसे माँगो, रामप्रेमकी प्रधानता, गोपियोंका अनन्य प्रेम आदि विषयोंका वर्णन है।

भक्त नरसिंह मेहता

(लेखक-मंगल)

साइज डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या १८०, गोलाकमें नरसी मेहताका सुन्दर कलापूर्ण चित्र, मूल्य ।≈)

गुजरातके भक्तशिरोमणि श्रीनरसिंह मेहताके इस चरित्रचित्रणमें उनके जीवनकी अनेक अद्भुत घटनाओंका वर्णन है। पुस्तक २० अध्यायोंमें विभक्त की गयी है। जो इस प्रकार है—महात्माकी कृपा, कुटुम्ब-विस्तार, शिवका अनुग्रह, रासदर्शन, अनन्याश्रम, कुँवरबाईका दहेज, पुत्रकी सगाई, शामलदासका विवाह, पुत्रकी मृत्यु, पिताका श्राद्ध, भजनका प्रभाव, शामलशाहपर हुंडी, कुँवरबाईका संसारचित्र, भक्त-सुताका सोमन्त, द्वेषका प्रतीकार, भक्तराजकी कसौटी, भक्तराज दरबारमें, हारप्रदान, भक्त और भगवान् और अन्तिम अवस्था।

पुस्तकके अन्तमें श्रीनरसिंह मेहताके कुछ प्रसिद्ध गुजराती भजन, हिन्दी-अनुवादसहित दिये गये हैं।

श्रीउड़ियास्वामीजीके उपदेश

श्रीउड़ियास्वामीजी महाराजके 'कल्याण'में प्रकाशित उपदेशोंको पुस्तकाकार कर दिया गया है। उपासना-खण्डमें भजनके विषयमें, साधकके लिये, गुरु-महिमा, भक्तिरहस्य, सत्संग, नामजप और संकीर्तन, ईश्वरतत्त्व, भगवल्लीला, प्रेमी और प्रेम आदि विषय हैं। ज्ञानखण्डमें उपयोगी साधन, वैराग्यके विषयमें, विरक्तके लिये, ज्ञान और भक्ति, ज्ञानी और ज्ञाननिष्ठा, दैवी सम्पत्ति आदिका वर्णन है। डबल क्राउन सोलहपेजी पृष्ठ २१८, श्रीभगवान् और उनकी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी और सदाशिवके दो सुन्दर चित्र, मूल्य ।≈) मात्र।

प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित

श्रीमद्भगवद्गीता भाषा (गुटका)

२२×२९–३२ पेजी साइज पृष्ठ ४००, दो सुन्दर तिरंगे चित्र, मू० ।) सजिल्द । ‍)

इसमें पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें १७५ अध्यायसे १९२ अध्यायतक वर्णित गीता-माहात्म्यके आधारपर गीताके प्रत्येक अध्यायका अलग-अलग माहात्म्य उस-उस अध्यायके हिन्दी अर्थसहित दिया गया है। माहात्म्यका अनुवाद पाण्डेय रामनारायणदत्तजी शास्त्रीने एवं सम्पूर्ण पुस्तकका सम्पादन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने किया है।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर।

छप गयी # गीताडायरी सन् १९३८ की नयी पुस्तकें

सम्पूर्ण पञ्चाङ्गसहित, मूल्य साधारण जिल्द ।), कपड़ेकी जिल्द ।-)

पिछले कई वर्षोंमें डायरीके दो-दो, तीन-तीन संस्करण निकालने पड़े और इसपर भी अन्तमें कई सज्जनोंको निराश होना पड़ा, यही इसकी उपयोगिताका सबसे बड़ा प्रमाण है । इसमें हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, पंजाबी तिथियोंके साथ-साथ संक्षेपसे त्योहार भी छापे जाते हैं । गीता १८ अध्याय सम्पूर्ण तो रहती ही है । आरम्भके ४८ पेजोंमें अति उपयोगी विषय दिये गये हैं । इसमें सम्पूर्ण पञ्चाङ्ग भी दिया गया है । अन्तमें याददाश्तके सादे पन्ने हैं । यह सबके लिये एक उपयोगी सुन्दर डायरी है । अनेक विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओंने इसकी बड़ी प्रशंसा की है । केवल १७२५० छापी गयी है, जिन्हें आवश्यकता हो, आर्डर देनेकी कृपा करें।

कमीशन रुपयेमें चार आना काटकर एक अजिल्द डायरीके लिये रजिस्ट्री और डाकखर्चसहित ||) और एक सजिल्दके लिये ||-) तथा दो अजिल्दके लिये |||-) और दो सजिल्दके लिये |||=) भेजना चाहिये । तीन अजिल्दका १) छः अजिल्दका १|||-) और तीन सजिल्दका १=) और छः सजिल्दका २=) होगा । बिना रजिस्ट्री पैकेट खो जानेका डर है । १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती ।

विशेष सूचना—मँगवानेसे पहले अपने बुकसेलरोंसे पूछिये । थोक मँगानेवाले बुकसेलर हमारी पुस्तकें प्रायः पुस्तकपर छपे हुए दामोंसे बेचा करते हैं । बुकसेलरोंसे लेनेमें आपको सुभीता होगा । भारी डाकखर्चकी बचत होगी, क्योंकि हमारी पुस्तकोंका प्रायः मूल्य कम और वजन अधिक होता है ।

बुकसेलरोंको सूचना

अजिल्द-सजिल्द कम-से-कम २५० डायरियाँ एक साथ लेनेवालोंका नाम-पता डायरीपर बिना किसी खर्चके छाप दिया जायगा । इससे उनको बेचनेमें मदद मिलेगी । कमीशन तो २५% सबको ही दिया जाता है ।

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा लिखित दो नयी पुस्तकें

नवधा भक्ति

डबल क्राउन सोलहपेजी ७० पृष्ठ, नवधाभक्तिका सुन्दर तिरंगा चित्र, मू० =) नवधाभक्तिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन आदि अङ्गोंपर उपसंहारसहित सुन्दर उपदेशप्रद वर्णन है ।

ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप

डबल क्राउन सोलहपेजी ४८ पृष्ठ, श्रीविष्णुका एक तिरंगा सुन्दर चित्र, मूल्य -)॥ मात्र । साधकोंके बड़े कामकी चीज है ।

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (सचित्र)

सम्पूर्ण (पाँचों खण्ड) दो जिल्दोंमें लेनेसे ||=) कम लगता है ।

लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

श्रीचैतन्यदेवकी इतनी बड़ी सविस्तार जीवनी अभीतक हिन्दीमें कहीं नहीं छपी । भगवान् और उनके भक्तोंके गुणगानसे भरी हुई इस जीवनीको पढ़कर सभी सज्जन लाभ उठावें । मूल्य इस प्रकार है—

खण्ड	पृष्ठ	चित्र	मूल्य		सजिल्द
प्रथम खण्ड	२९२	६	|||=)	सजिल्द	१=)
दूसरा खण्ड	४५०	९	१=)	,, ...	१|=)
तीसरा खण्ड	३८४	११	१)	,, ...	१|)
चौथा खण्ड	२२४	१४	||=)	,, ...	|||=)
पाँचवाँ खण्ड	२८०	१०	|||)	,, ...	१)
	१६३०	५०	४|=)		५||=)

पाँचों भाग सजिल्द (दो जिल्दोंमें) ५)

बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मँगाइये ।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर ।

चित्र-सूची

सुन्दर सस्ते धार्मिक दर्शनीय चित्र

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े चित्र

सभी चित्र बढ़िया आर्ट पेपरपर सुन्दर छपे हुए हैं ।

सुनहरी नेट दाम प्रत्येकका ~)॥

१ युगलछबि
२ राम-रमा
३ अवधकी गलियोंमें आनन्दकंद
४ आनन्दकंदका आँगनमें खेल
५ आनन्दकंद पालनेमें
६ कौसल्याका आनन्द
७ सखियोंमें श्याम

रंगीन-नेट दाम प्रत्येकका ~)

११ श्रीराधेश्याम
१२ श्रीनन्दनन्दन
१३ गोपियोंकी योगधारणा
१४ श्याममयो संसार
१५ श्रीवृन्दावनविहारी
१६ श्रीविश्वविमोहन
१७ श्रीमदनमोहन
१८ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
१९ श्रीव्रजराज
२० श्रीकृष्णार्जुन
२१ चारों भैया
२२ भुवनमोहन राम
२३ राम-रावण-युद्ध
२४ रामदरबार
२५ श्रीरामचतुष्टय
२६ श्रीलक्ष्मीनारायण
२७ श्रीविष्णुभगवान्
२८ श्रीलक्ष्मीजी
२९ कमला
३० सावित्री-ब्रह्मा
३१ श्रीविश्वनाथजी
३२ श्रीशिवपरिवार
३३ शिव-बरात
३४ शिव-परिछन
३५ शिव-विवाह
३६ प्रदोषनृत्य
३७ श्रीजगज्जननी उमा
३८ श्रीध्रुव-नारायण
३९ श्रीमहावीरजी
४० श्रीचैतन्यका संकीर्तनदल
४१ महासंकीर्तन
४२ नवधा भक्ति
४३ जडयोग
४४ भगवान् शक्तिरूपमें
४५ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
४६ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी
४७ भगवान् नारायण
४८ ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
४९ मुरलीका असर
५० लक्ष्मी माता
५१ श्रीकृष्ण-यशोदा
५२ भगवान् शंकर

१२ चित्रोंतक मँगानेपर पैकिंगमें चोंगा लगाना पड़ता है, जिससे डाकखर्च बढ़ जाता है । सोचकर मँगाना चाहिये । अधिक मँगानेमें ही डाकखर्चका सुभीता है ।

कागज-साइज १०×१५ इञ्च

(छोटे ब्लाकोंसे ही केवल बड़े कागजपर बार्डर लगाकर छापे हैं ।)

सुनहरी चित्र, नेट दाम)॥ प्रतिचित्र

१०१ युगलछबि
१०२ तन्मयता

बहुरंगे चित्र, नेट दाम)।॥ प्रतिचित्र

१११ कौसल्या-नारायण
११२ श्रीरामचतुष्टय
११३ अहल्योद्धार
११४ वृन्दावनविहारी
११५ मुरली-मनोहर
११६ गोपीकुमार
११७ राधाकृष्ण
११८ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
११९ व्रज-नव-युवराज
१२० कौरव-सभामें विराट्रूप
१२१ श्रीशेषशायी भगवान् विष्णु
१२२ श्रीश्रीमहालक्ष्मी (चतुर्भुजी)
१२३ श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी (अष्टादशभुजी)
१२४ श्रीविष्णु भगवान्
१२५ कमलापति-स्वागत
१२६ लक्ष्मीनारायण
१२७ देवदेव भगवान् महादेव
१२८ शिवजीकी विचित्र बारात
१२९ शिव-परिछन
१३० शिव-परिवार
१३१ पञ्चमुख परमेश्वर
१३२ लोककल्याणार्थ हलाहलपान
१३३ गौरीशंकर
१३४ जगज्जननी उमा
१३५ देवी कात्यायनी
१३६ पवन-कुमार
१३७ ध्रुव-नारायण
१३८ श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु
१३९ श्रीगायत्रीके तीन रूप

कागज-साइज ७॥×१० इञ्च

सुनहरी चित्र, नेट दाम)।॥ प्रतिचित्र

२०१ श्रीरामपञ्चायतन
२०२ क्रीडाविपिनमें श्रीरामसीता
२०३ युगलछवि
२०४ कंसका कोप
२०५ बधे नटवर
२०६ वेणुधर
२०७ बाबा भोलेनाथ
२०८ मातङ्गी
२०९ दुर्गा
२१० आनन्दकंदका आँगनमें खेल

बहुरंगे चित्र, नेट दाम)। प्रतिचित्र

२५१ सदाप्रसन्न राम
२५२ कमललोचन राम
२५३ त्रिभुवनमोहन राम
२५४ भगवान् श्रीरामचन्द्र
२५५ श्रीरामावतार
२५६ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
२५७ भगवान् श्रीरामकी बाललीला
२५८ भगवान् श्रीराम और काकभुशुण्डि
२५९ अहल्योद्धार
२६० गुरु-सेवा
२६१ पुष्पवाटिकामें श्रीसीताराम
२६२ स्वयंवरमें लक्ष्मण-का कोप
२६३ परशुराम-राम
२६४ श्रीसीताराम [वन-गमनाभिलाषिणी सीता
२६५ रामकी कौसल्यासे बिदाई
२६६ रामवनगमन
२६७ कौसल्या-भरत
२६८ भरतगुहमिलाप
२६९ श्रीरामके चरणोंमें भरत
२७० पादुका-पूजन
२७१ ध्यानमग्न भरत
२७२ अनसूया-सीता
२७३ श्रीराम-प्रतिज्ञा
२७४ राम-शबरी
२७५ देवताओंद्वारा श्रीरामस्तुति
२७६ बालिवध और ताराविलाप
२७७ श्रीराम-जटायु
२७८ विभीषणहनुमान्मिलन
२७९ ध्यानमग्ना सीता
२८० लङ्का-दहन
२८१ श्रीरामका रामेश्वरपूजन
२८२ सुबेल-पर्वतपर श्रीरामकी झाँकी
२८३ राम-रावण-युद्ध
२८४ नन्दिग्राममें भरत-हनुमान्-भेंट
२८५ पुष्पकारूढ श्रीराम

२८६ मारुति-प्रभाव
२८७ श्रीरामदरबार
२८८ श्रीरामचतुष्टय
२८९ श्रीसीताराम (शक्ति अङ्क)
२९० श्रीसीताराम (मर्यादायोग)
२९१ श्रीशिवकृत राम-स्तुति
२९२ श्रीसीताजीकी गोदमें लव-कुश
२९३ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी
२९४ माँका प्यार
२९५ प्यारका बन्दी
२९६ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
२९७ श्रीकृष्णार्जुन
२९८ भगवान् और उनकी ह्लादिनीशक्ति राधाजी
२९९ राधाकृष्ण
३०० श्रीराधेश्याम
३०१ मदनमोहन
३०२ व्रजराज
३०३ वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
३०४ विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
३०५ बाँकेविहारी
३०६ श्रीश्यामसुन्दर
३०७ मुरलीमनोहर
३०८ भक्तमनचोर
३०९ श्रीनन्दनन्दन
३१० आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र
३११ गोपीकुमार
३१२ व्रज-नव-युवराज
३१३ भक्त-भावन भगवान् श्रीकृष्ण
३१४ देवकीजी
३१५ साधु-रक्षक श्रीकृष्ण (वसुदेव-देवकीको कारागारमें दर्शन)
३१६ गोकुल-गमन
३१७ मथुरासे गोकुल
३१८ दुलारा लाल
३१९ तृणावर्त-उद्धार
३२० वात्सल्य
३२१ गोपियोंकी योगधारणा
३२२ श्याममयी संसार

३२३ माखन-प्रेमी बालकृष्ण
३२४ गो-प्रेमी श्रीकृष्ण
३२५ मनमोहनकी तिरछी चितवन
३२६ भवसागरसे उद्धारक भगवान् कृष्ण
३२७ बकासुर-उद्धार
३२८ अघासुर-उद्धार
३२९ कृष्ण-सखा-सह वन-भोजन
३३० वर्षामें श्रीकृष्ण-बलराम
३३१ राम-श्यामकी मथुरा-यात्रा
३३२ योद्धा श्रीकृष्ण
३३३ बन्धन-मुक्तकारी श्रीकृष्ण
३३४ सेवक श्रीकृष्ण
३३५ जगत्-पूज्यश्रीकृष्णकी अग्रपूजा
३३६ शिशुपाल-उद्धार
३३७ समदर्शी श्रीकृष्ण
३३८ शान्तिदूत श्रीकृष्ण
३३९ मोह-नाशक श्रीकृष्ण
३४० भक्त (भीष्म)-प्रतिज्ञा-रक्षक श्रीकृष्ण
३४१ अश्व-परिचर्या
३४२ श्रीकृष्णका अर्जुनको पुनः ज्ञानोपदेश
३४३ जगद्गुरु श्रीकृष्ण
३४४ राजा बहुलाश्वकृत श्रीकृष्ण-पूजन नं० २
३४५ नृग-उद्धार
३४६ मुरलीका असर
३४७ व्याधकी क्षमा-प्रार्थना
३४८ योगेश्वरका परम प्रयाण
३४९ शिव
३५० ध्यानमग्न शिव
३५१ सदाशिव
३५२ योगीश्वर श्रीशिव
३५३ पञ्चमुख परमेश्वर
३५४ योगाग्निसे सती-दाह
३५५ मदन-दहन
३५६ शिवविवाह
३५७ उमा-महेश्वर
३५८ गौरीशंकर

३५९ जगज्जननी उमा
३६० शिव-परिवार
३६१ प्रदोष-नृत्य
३६२ शिव-ताण्डव
३६३ हलाहलपान
३६४ पाशुपतास्त्रदा[illegible]
३६५ श्रीहरिहरकी ज[illegible]
३६६ श्रीविष्णुरूप और श्रीब्रह्मारूपके द्वारा श्रीशिवरूपकी स्तुति
३६७ भगवान् विष्णको चक्रदान
३६८ श्रीकृष्णकी शिव-स्तुति
३६९ शिव-राम-संवाद
३७० काशी-मुक्ति
३७१ भक्त व्याघ्रपाद
३७२ श्रीविष्णु
३७३ विष्णुभगवान्
३७४ कमलापति-स्वागत
३७५ शेषशायी
३७६ लक्ष्मीनारायण
३७७ भगवान् नारायण
३७८ श्रीब्रह्माजी
३७९ ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
३८० ब्रह्म-स्तुति
३८१ भगवान् मत्स्यरूपमें
३८२ मत्स्यावतार
३८३ भगवान् कूर्मरूपमें
३८४ भगवान् वराहरूपमें
३८५ भगवान् श्रीनृसिंहदेव-की गोदमें भक्त प्रह्लाद
३८६ भगवान् वामनरूपमें
३८७ भगवान् परशुरामरूपमें
३८८ भगवान् बुद्धरूपमें
३८९ भगवान् कल्किरूपमें
३९० भगवान् ब्रह्मरूपमें
३९१ ब्रह्मा-सावित्री
३९२ भगवान् दत्तात्रेयरूपमें
३९३ भगवान् सूर्यरूपमें
३९४ भगवान् गणपतिरूपमें
३९५ भगवान् अग्निरूपमें
३९६ भगवान् शक्तिरूपमें
३९७ महागौरी
३९८ महाकाली
३९९ महासरस्वती

४०० महालक्ष्मी (चतुर्भुजी)
४०१ श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी (अष्टादशभुजी)
४०२ नारीशक्ति
४०३ देवी कात्यायनी
४०४ देवी कालिका
४०५ देवी कूष्माण्डा
[illegible] [illegible]वी चन्द्रघण्टा
४०७ देवी सिद्धिदात्री
४०८ राजा सुरथ और समाधि वैश्यको देवीका दर्शन
४०९ [illegible] माता
४१० समुद्र-मन्थन
४११ महासङ्कीर्तन
४१२ ध्यानयोगी ध्रुव
४१३ ध्रुव-नारद
४१४ ज्ञानयोगी राजा जनक
४१५ ज्ञानयोगी शुकदेव
४१६ भीष्मपितामह
४१७ अजामिल-उद्धार
४१८ सुआ पढ़ावत गणिका तारी
४१९ शङ्करके ध्येय बाल श्रीकृष्ण
४२० सङ्कीर्तनयोगी श्रीचैतन्य महाप्रभु
४२१ निमाई-निताई
४२२ श्रीचैतन्यका सङ्कीर्तन-दल
४२३ प्रेमी भक्त सूरदासजी
४२४ गोस्वामी तुलसीदासजी
४२५ मीरा (कीर्तन)
४२६ मीराबाई (जहरका प्याला)
४२७ प्रेमयोगिनी मीरा
४२८ मीरा (आजु मैं देख्यो गिरधारी)
४२९ प्रेमी भक्त रसखान
४३० गोलोकमें नरसी मेहता
४३१ राँका-बाँका
४३२ नवधा भक्ति
४३३ जड़योग
४३४ सप्तज्ञानभूमिका
४३५ मानस सरोवर
४३६ स्तवन
४३७ समुद्रताड़न
४३८ ऋषि-आश्रम
४३९ महामन्त्र नं० १
४४० महामन्त्र नं० २
४४१ रघुपति राघव राजाराम पतित-पावन सीताराम
४४२ जय हरि गोविन्द राधे गोविन्द
४४३ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
४४४ कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्
४४५ हरहर महादेव
४४६ नमः शिवाय
४४७ लक्ष्मी माता
४४८ श्रीकृष्ण-यशोदा
४४९ शुद्धाद्वैतसम्प्रदायके आदिप्रवर्तक भगवान् शङ्कर
४५० कालिय उद्धार
४५१ यज्ञपत्नीको भगवत्प्राप्ति
४५२ श्रीकृष्णद्वारा माता-पिताकी बन्धन-मुक्ति
४५३ सुदामाका महल
४५४ श्रीकृष्ण उद्धवको सन्देश देकर व्रज भेज रहे हैं
४५५ नौकारोहण
४५६ मथुरा-गमन
४५७ भगवान् विष्णु
४५८ रामसभा
४५९ सूरके श्याम ब्रह्म
४६० भगवान् राम और सनकादिमुनि
४६१ जरासंधसे युद्धभिक्षा

फुटकर एवं 'कल्याण'के बचे हुए कुछ चित्र

माताका हृदय
सुमित्राका त्याग
आत्मज्ञानका अधिकारी नचिकेता, 'द' 'द' 'द'
The Offering.
श्रवण-भक्त राजा परीक्षित एवं कीर्तन-भक्त परमहंस शुकदेव मुनि
उमा और इन्द्र, वरुण और भृगु

एकरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा

श्रीकृष्ण-सुदामाकी गुरु-सेवा
अहल्योद्धार
योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण

कागज-साइज ५×७॥ इञ्च

बहुरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा

१००१ श्रीविष्णु
१००२ शेषशायी
१००३ सदाप्रसन्न राम
१००४ कमललोचन राम
१००५ त्रिभुवनमोहन राम
१००६ दूल्हा राम
१००७ श्री[illegible]राम
१००८ श्रीराम-विभीषण-मिलन (भुज विशाल गहि)
१००९ श्रीरामचतुष्टय
१०१० विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
१०११ वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
१०१२ आनन्दकन्द श्रीकृष्ण
१०१३ गोपीकुमार
१०१४ श्रीबाँकेविहारी
१०१५ व्रज-नव-युवराज
१०१६ रामदरबार
१०१७ देवसेनापति कुमार कार्तिकेय
१०१८ व्रजराज
१०१९ खेल-खिलाड़ी
१०२० ब्रह्माका मोह
१०२१ युगलछवि
१०२२ श्रीमदनमोहन
१०२३ श्रीराधेश्याम
१०२४ भगवान् और ह्लादिनी शक्ति राधाजी
१०२५ नन्दनन्दन
१०२६ सुदामा और श्रीकृष्णका प्रेममिलन
१०२७ अर्जुनको गीताका उपदेश
१०२८ अर्जुनको चतुर्भुज-रूपका दर्शन
१०२९ भक्त अर्जुन और उनके सारथि कृष्ण
१०३० परीक्षितकी रक्षा
१०३१ सदाशिव
१०३२ शिवपरिवार
१०३३ चन्द्रशेखर
१०३४ कमला
१०३५ भुवनेश्वरी
१०३६ श्रीजगन्नाथजी
१०३७ यम-नचिकेता
१०३८ ध्यानयोगी ध्रुव
१०३९ ध्रुव-नारायण
१०४० पाठशालामें प्रह्लादका बालकोंको राम-राम जपनेका उपदेश
१०४१ समुद्रमें पत्थरोंसे दबे प्रह्लादका उद्धार
१०४२ भगवान् नृसिंहकी गोदमें प्रह्लाद
१०४३ पवन-कुमार
१०४४ भगवान्‌की गोदमें भक्त चक्रिक
१०४५ शंकरके ध्येय बालकृष्ण
१०४६ भगवान् श्रीशङ्कराचार्य
१०४७ श्रीश्रीचैतन्य
१०४८ चैतन्यका अपूर्व त्याग
१०४९ भक्त धन्ना जाटकी रोटियां भगवान् ले रहे हैं

१०५० गोविन्दके साथ गोविन्द खेल रहे हैं
१०५१ भक्त गोपाल चरवाहा
१०५२ मीराबाई (कीर्तन)
१०५३ भक्त जनाबाई और भगवान्
१०५४ भक्त जगन्नाथदास भागवतकार
१०५५ श्रीहरिभक्त हिम्मतदासजी
१०५६ भक्त बालीग्रामदास
१०५७ भक्त दक्षिणी तुलसीदासजी
१०५८ भक्त गोविन्ददास
१०५९ भक्त मोहन और गोपाल भाई
१०६० परमेष्ठी दर्जी
१०६१ भक्त जयदेवका गीत-गोविन्द-गान
१०६२ ऋषि-आश्रम
१०६३ श्रीविष्णु भगवान्
१०६४ कमलापतिस्वागत
१०६५ सूरका समर्पण
१०६६ माँका प्यार
१०६७ प्यारका बन्दी
१०६८ बाललीला
१०६९ नवधा भक्ति
१०७० ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म
१०७१ श्रीमनुशतरूपा
१०७२ देवता, असुर और मनुष्योंको [illegible] उपदेश

चित्रोंके दाम

चित्र बेचनेके नियमोंमें परिवर्तन हो गया है। दाम प्रायः बहुत घटा दिये गये हैं।

साइज और रंग

१५×२०, सुनहरी —)॥	१०×१५, सुनहरी)॥	७॥×१०, सुनहरी)।½	७॥×१०, सादा १) सै०
१५×२०, रंगीन —)	१०×१५, रंगीन)।½	७॥×१०, रंगीन)।	५×७॥, रंगीन १) सै०

१५×२० साइजके सुनहरे और रंगीन ४९ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ३।)॥ पैकिङ्ग —)॥ डाकखर्च ॥।≥) कुल लागत ४।—) लिये जायँगे।

१०×१५ साइजके सुनहरे और रंगीन ३१ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ॥≥)॥।½ पैकिङ्ग —)॥।½ डाकखर्च ॥—)। कुल १।≥) लिये जायँगे।

७॥×१० साइजके सुनहरे १०, रंगीन २१६ और सादे ३ कुल २२९ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ३॥=)। पैकिङ्ग —)॥ डाकखर्च १—)। कुल ४॥।—) लिये जायँगे।

५×७॥ साइजके रंगीन ७२ चित्रोंका नेट दाम ॥≥)॥ पैकिङ्ग —)। डाकखर्च ।≠)। कुल १≥) लिये जायँगे।

१५×२०, १०×१५, ७॥×१०, ५×७॥ के चारों सेटकी नेट कीमत ८।=)½ पैकिङ्ग —)॥।½ डाकखर्च २≡) कुल १०॥≡) लिये जायँगे।

रेल पार्सलसे मँगानेवाले सज्जनोंको ८।=)½ चित्रका मूल्य पैकिंग =)॥।½ रजिस्ट्री।) कुल ८॥।—) भेजना चाहिये। साथमें पासके रेलवे स्टेशनका नाम लिखना जरूरी है।

नियम

(१) चित्रका नम्बर, नाम जिस साइजमें दिया हुआ है वह उसी साइजमें मिलेगा, आर्डर देते समय नम्बर भी देख लें। समझकर आर्डरमें नम्बर, नाम अवश्य लिख दें। (२) ३० के चित्र लेनेसे ग्राहकके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलीवरी दी जायगी। शीघ्रताके कारण सवारी गाड़ीसे मँगानेपर केवल आधा रेलभाड़ा दिया जायगा। रजिस्ट्री वी० पी० खर्चा ग्राहकको देना होगा। (३) पुस्तकोंके साथ मालगाड़ीसे चित्र मँगानेपर कुल मालका चित्रोंकी क्लासका किराया देना पड़ता है, इसलिये जितना किराया अधिक लगेगा वह ग्राहकोंके जिम्मे होगा, आर्डर देते समय इस नियमको समझ लें। (४) केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं। (५) 'कल्याण'के साथ भी चित्र नहीं भेजे जाते। (६) चित्रोंकी एजेन्सी देने अथवा एजेन्ट नियुक्तिका नियम नहीं है।

नोट—सेट सजिल्द भी मिला करती है। जिल्दका दाम १५×२० का ॥।), १०×१५ का ।=), ७॥×१० का ॥), ५×७॥ का ≠) अधिक लिया जाता है। सजिल्द सेटका डाकखर्च ज्यादा लगता है।

स्टाकमें चित्र समय-समयपर कम-अधिक होते रहते हैं इसलिये सेटका आर्डर आनेपर जितने चित्र स्टाकमें उस समय तैयार रहेंगे उतने ही चित्र भेज दिये जायँगे।

☞ चित्र विक्रेताओंके पते आदि जाननेके लिये बड़ी चित्रसूची मुफ्त मँगाइये। पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

ज्ञानाज्ञानविभिन्नभेदनिचयानुन्मूल्य तत्त्वस्थिताः, श्रीश्रीकृष्णपदारविन्दमकरन्दास्वादनैकव्रताः ।
दैवीभूतिविभूतिमन्त इह ये सर्वात्मना सर्वदा, कल्याणं कलयन्ति सर्वजगतां तेभ्यो महद्भ्यो नमः ॥

वर्ष १२ } गोरखपुर, कार्तिक १९९४, नवम्बर १९३७ { संख्या ४ पूर्ण संख्या १३६

श्रीकृष्ण-उद्धव

उद्धव बेगही ब्रज जाहु ।
सुरति सँदेस सुनाय मेटो बल्लविनको दाहु ॥
काम पावक तूलमें तन बिरह स्वाँस समीर ।
भसम नाहिंन होन पावत लोचननिके नीर ॥
अजौं लौं यहि भाँति ह्वैहै कछुक सजग सरीर ।
पतेहु बिनु समाधाने क्यों धरैं तिय धीर ॥
कहौं कहा बनाय तुमसों सखा साधु प्रवीन ।
सूर सुमति बिचारिये क्यों जिये जल बिनु मीन ॥

—सूरदासजी

सत्कर्म करो परन्तु अभिमान न करो

मनुष्यके लिये उत्तम लोकोंमें जानेके सात बड़े भारी सुन्दर दरवाजे सत्पुरुषोंने बतलाये हैं, वे ये हैं—

१ अपने धर्मपालनके लिये सुखपूर्वक नाना प्रकारके कष्टोंको स्वीकार करना । यह तप है ।

२ देश, काल और पात्रको देखकर सत्कारपूर्वक निष्कामभावसे अपनी वस्तु दूसरेको देना । यह दान है ।

३ विषाद, कठोरता, चञ्चलता, व्यर्थचिन्तन, राग-द्वेष, और मोह-वैर आदि कुविचारोंको चित्तसे हटाकर उसे परमात्मामें लगाना । यह शम है ।

४ विषयोंके समीप होनेपर भी इन्द्रियोंको उनकी ओर जानेसे रोक रखना । यह दम है ।

५ तन, मन, वचनसे बुरे कर्म करनेमें सङ्कोच होना । यह लज्जा है ।

६ मनमें छल, कपट या दम्भका अभाव होना । यह सरलता है ।

७ बिना किसी भेदभावसे प्राणिमात्रके दुःखको देखकर हृदयका द्रवित हो जाना और उनके दुःखोंको दूर करनेके लिये चेष्टा करना । यह दया है ।

इन सातोंके करनेवाला पुरुष यदि इनके कारण अभिमान करता है, तो उसके ये तप आदि गुण मानरूपी तमसे निष्फल होकर नष्ट हो जाते हैं ।

जो मनुष्य श्रेष्ठ विद्या पढ़कर अपनेको ही पण्डित मानता है और अपनी विद्यासे दूसरेके यशको घटाता है, उसको उत्तम लोककी प्राप्ति नहीं होती । और उसकी पढ़ी हुई वह उत्तम विद्या उसे ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं कराती ।

अध्ययन, मौन, अग्निहोत्र और यज्ञ ये चार कर्म मनुष्यको भवभयसे छुड़ानेवाले हैं परन्तु यदि यही अभिमानके साथ या मानकी प्राप्तिके लिये किये जायँ तो उलटे भय देनेवाले होते हैं ।

इसलिये कहीं सम्मान मिले तो फूल नहीं जाना चाहिये, और अपमान हो तो संताप नहीं मानना चाहिये । क्योंकि संतलोग सदा संतोंको पूजते ही हैं और असंतोंमें संतबुद्धि आती नहीं ।

'मैंने दान दिया है, मैंने इतने यज्ञ किये हैं, मैंने इतना पढ़ा है, मैंने ऐसे-ऐसे व्रत किये हैं' इस प्रकार जो अभिमानभरी डींगें मारता हुआ ये कर्म करता है उसको यही कर्म शुभ फल न देकर उलटा भय देनेवाले हो जाते हैं । इसलिये अभिमानका बिल्कुल त्याग करना चाहिये ।

(महाभारत)

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[वर्ष ११ पृष्ठ १४७५ से आगे]

[मणि १० बृहदारण्यक]

अभयदानकी उत्कृष्टता

हे जनक ! कुरुक्षेत्रमें सूर्यग्रहणकालमें कोई पुरुष सुवर्णादि पदार्थोंसे पूर्ण संपूर्ण पृथिवीको ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणको श्रद्धापूर्वक दान कर दे, उस दानसे भी स्थावर-जंगम प्राणियोंमें किसी एक प्राणीको भी अभयकी प्राप्ति करानी कहीं अधिक दान है । तात्पर्य यह है कि स्थावर-जंगम प्राणियोंमेंसे किसी एक प्राणीको भी जो पुरुष अभयदान देता है उस अभयदानसे भी जब कोई पुण्य अधिक नहीं है, तो जो पुरुष सर्वकाल, सर्वदेशमें सर्वप्राणियोंको अभयदान दे, तो उससे अधिक कोई पुण्य नहीं है, इसमें कहना ही क्या है । इसलिये जो संन्यासी सबको अभय-दान देकर आत्मसाक्षात्कारके लिये यत्न करता है, वह इस शरीरमें अथवा अन्य शरीरमें द्वैत-दर्शनजन्य भयको प्राप्त नहीं होता किन्तु सर्व-भयसे रहित अद्वैत ब्रह्मको ही प्राप्त होता है। इसलिये अभयदानसे अधिक अन्य दान नहीं है।

अहिंसाकी उत्कृष्टता—हे जनक ! जरायुज, अण्डज, स्वदेज, उद्भिज्ज—इन चार प्रकारके जीवोंको शरीर, मन, वाणीसे दुःख न पहुँचाना, इसका नाम अहिंसा है । इस अहिंसामें ही सत्य, दया, तप, दान—इन चार पादवाला धर्म सर्वथा निवास करता है । हे जनक ! हिंसा तीन प्रकारकी होती है—शरीरकृत, वाणीकृत और मनकृत । जरायुजादि चार प्रकारके जीवोंके शरीरमें शस्त्रादिसे प्रहार करना, मन्त्र-ओषधि आदिसे रोगकी उत्पत्ति करना, उनके स्त्री, धन, अन्नादिका हरण करना, इत्यादि जीवोंके मरणके अनेक उपायोंका नाम शरीरकृत हिंसा है। किसीके किसी दोषको द्वेषभावसे राजा तथा राजाके भृत्योंके समीप कथन करना, अन्य प्राणियोंकी निन्दा करना और गुणवानोंमें दोष कथन करना इत्यादि वाणीकृत हिंसा है। अन्यके कीर्ति आदि गुणोंको सहन न करना, अन्यके धनादि पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये अनेक उपाय सोचना, तथा दूसरोंके मरणका उपाय करना, इत्यादि मनसे दुःख-चिन्तनका नाम मनकृत हिंसा है ।

हे जनक ! किसी देवदत्त नामक पुरुषका यज्ञदत्त नामका शत्रु है, उस यज्ञदत्त शत्रुको जो पुरुष देवदत्त नामक पुरुषको मारनेकी बुद्धि और धनादि पदार्थ दे, इसका नाम उपायहिंसा है, यह उपायहिंसा कई प्रकारकी होती है। इस लोक तथा परलोकमें अपने या अन्य प्राणियोंको दुःख देनेवाला मिथ्या वचन भी हिंसा ही है। यज्ञ-दानादिमें प्रवृत्त हुए पुरुषको अनेक प्रकारके कुतर्कोंसे उस शुभकर्मसे निवृत्त करना और आप भी शुभकर्म न करना, इसका नाम नास्तिकपना है, यह भी हिंसा है । शास्त्रविहित सन्ध्या-गायत्री आदि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका त्याग देना और शास्त्रनिषिद्ध परस्त्रीगमनादि पापकर्म करना, ये दोनों करनेवालेको, उसके कुलको और देशको अनर्थकी प्राप्ति करते हैं, इसलिये ये दोनों भी हिंसा हैं । जो पुरुष इस भारतखण्डमें अधिकारी मनुष्यशरीर पाकर निद्रा-तन्द्रादि तामस वृत्तियोंमें अपनी उम्र व्यर्थ खो देते हैं उनको इस लोक और परलोकमें दुःखकी प्राप्ति होती है, इसलिये निद्रा-तन्द्रादि भी

हिंसा हैं। हे जनक ! इस प्रकार हिंसाओंके नाना स्वरूप शास्त्रमें कहे हैं। इन हिंसाओंसे विपरीत और शास्त्रविहित कर्मका नाम धर्म है। सम्पूर्ण धर्म अहिंसाके अन्तर्भूत हैं, इसलिये श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रोंमें अहिंसाको परम धर्म कहा है। जिस धर्मसे कोई धर्म अधिक न हो, इसका नाम परम धर्म है। इसलिये विवेकी पुरुषोंको अहिंसाधर्म अवश्य सम्पादन करना चाहिये। हे जनक ! जो पुरुष अहिंसाधर्मका सम्पादन करता है उसके हाथमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों प्रकारका पुरुषार्थ स्थित है। इसलिये अहिंसाधर्म ही सर्व फलकी प्राप्ति करनेवाला है, इसीलिये पतञ्जलि भगवान्‌ने पाँचों यमोंमें अहिंसाको सर्वप्रथम कहा है। चारों यमोंका अहिंसामें ही अन्तर्भाव है। हे जनक ! ब्रह्मचर्यसे रहित कामी पुरुषको स्त्री-सम्भोगके पीछे परम दुःखकी प्राप्ति होती है, क्योंकि यौवनावस्थामें स्त्रीके सम्भोगसे स्त्रीमें गर्भकी उत्पत्ति होती है, गर्भकी उत्पत्तिसे गर्भिणी और गर्भको मरणके समान दुःखकी प्राप्ति होती है और कभी-कभी दोनों मर भी जाते हैं। इसलिये स्त्रीका सम्भोग हिंसारूप है। अथवा कामी पुरुष जब स्त्री-सम्भोग करता है, तभी कामीका सप्तम धातुरूप वीर्य स्त्रीके उदरमें जीवोंके शरीरकी उत्पत्ति करता है, उस शरीरके सम्बन्धसे जीवोंको अध्यात्म, अधिदैव अधिभूत तीनों प्रकारके दुःख होते हैं। इससे कामी पुरुषको पापकी प्राप्ति होती है और पापसे कामी पुरुष इस लोक और परलोकमें दुःखको प्राप्त होता है। इसलिये स्त्री-सम्भोग स्त्री, बालक, पुरुष तीनोंके दुःखका कारण होनेसे हिंसारूप है। ब्रह्मचर्य धारण करनेवालेको यह हिंसा प्राप्त नहीं होती इसलिये ब्रह्मचर्य अहिंसामें अन्तर्भूत है। हे जनक ! शरीर, मन, वाणीसे जो पुरुष किसीकी हिंसा नहीं करता, वह असत्य भी नहीं बोलता और अन्यके धनादि पदार्थोंकी चोरी भी नहीं करता और पदार्थोंका संग्रह भी नहीं करता, इसलिये सत्य, अस्तेय, अपरिग्रहका भी अहिंसामें अन्तर्भाव है। अतएव पाँचों यमोंमें अहिंसा चारों यमोंकी जननी है। अहिंसाधर्मसे युक्त पुरुष सब पुरुषोंसे उत्तम है, इसलिये अहिंसारूप अभयदान संन्यासीको सर्वदा करना चाहिये और ब्रह्मचारी आदिको भी करना योग्य है। तो भी गृहस्थादिसे सर्वथा हिंसाका परित्याग नहीं हो सकता और संन्यासियोंका तो संन्यासाश्रमका ग्रहण अहिंसाके लिये ही है। इसलिये संन्यासीको विशेष करके अहिंसारूप अभयदान ही देना चाहिये।

तपका स्वरूप—हे जनक ! चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके जो-जो धर्म शास्त्रने विधान किये हैं, उन अपने-अपने धर्मोंको श्रद्धापूर्वक सम्पादन करनेका नाम तप है।

अनशनका स्वरूप—हे जनक ! शास्त्रमें नहीं निषेध किये हुए विषयोंका भी यथाशक्ति परित्याग करनेका नाम अनशन है। यह अनशन-धर्म संन्यासियोंके अतिरिक्त सम्पूर्ण वर्ण-आश्रमके पुरुषोंको करने योग्य है और संन्यासियोंको तो इस प्रकारका अनशन करना चाहिये कि इस लोक तथा परलोकमें विद्यमान विषयजन्य सुख तथा उनके साधन स्त्री-पुत्रादि पदार्थोंकी प्राप्तिकी इच्छामात्र भी न हो और प्रारब्ध कर्मके योगसे प्राप्त हुए भिक्षाके अन्न-वस्त्रसे शरीरका निर्वाह हो।

हे जनक ! इस प्रकार श्रुतिविहित यज्ञ, दान, तप, अनशन चार प्रकारके पुण्य-कर्मरूप अदृष्ट कारणोंसे तथा गुरु, शास्त्र, अधिकारी शरीरादि दृष्ट कारणोंसे इस अधिकारीको जब आनन्द-स्वरूप अद्वितीय ब्रह्मका ज्ञान होता है तभी ब्रह्मसाक्षात्कारमें आप ही इच्छा होती है। भाव यह है कि यज्ञादि शुभ कर्म करनेसे पुण्यरूप अदृष्टकी उत्पत्ति होनेसे इस पुरुषको गुरु, शास्त्र,

अधिकारी शरीर, शुद्ध बुद्धि आदि कारणोंकी प्राप्ति होती है, फिर आत्माका परोक्षज्ञान होता है, परोक्षज्ञानके पीछे अपरोक्षज्ञानकी इच्छा होती है, इच्छाके बाद आनन्दस्वरूप आत्मामें चित्तकी एकाग्रता होती है। इस प्रकार परम्परासे यज्ञदानादि आत्मसाक्षात्कारमें कारण हैं, इसलिये अधिकारीको यज्ञदानादि पुण्य कर्म अवश्य सम्पादन करनेयोग्य है।

शंका–हे भगवन् ! इन पुण्यकर्मोंसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो जायगी, फिर आत्मज्ञानका क्या प्रयोजन है ?

समाधान–हे जनक ! आत्मज्ञानके विना केवल कर्मोंसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि एकाग्र-चित्तमें ही संशय-विपर्यय-रहित महावाक्यजन्य आत्मसाक्षात्कार होता है। पश्चात् अधिकारी जीवन्मुक्तिरूप मुनिभावको प्राप्त होता है। भाव यह है कि पुण्यकर्मोंसे जब अधिकारीको आत्माके जाननेकी दृढ़ इच्छा होती है, तब ही गुरु-उपदेशसे आत्माका साक्षात्कार करके वह मुनिभावको प्राप्त होता है।

विविदिषा संन्यास

हे जनक ! संन्यासियोंसे जाननेयोग्य, मन-वाणीके अविषय आनन्दस्वरूप आत्माके साक्षात्कारकी इच्छा करते हुए विरक्त अधिकारी यज्ञादि सर्व कर्मोंका परित्याग करके संन्यास-आश्रम ग्रहण करते हैं।

शंका–हे भगवन् ! विरक्त पुरुष यज्ञादिका परित्याग करके संन्यास-आश्रम क्यों ग्रहण करते हैं ?

समाधान–हे जनक ! कर्ममें आसक्त पुरुषकी आत्मसाक्षात्कारमें निष्ठा होनी अत्यन्त दुर्लभ है इसलिये आत्मज्ञानमें निष्ठा करनेके लिये अधिकारीको कर्मोंका त्याग अवश्य करना चाहिये।

शंका–हे भगवन् ! संन्यास-आश्रमके विना ही सर्व कर्मोंका परित्याग करनेसे आत्मनिष्ठा हो सकती है, इसलिये संन्यास-आश्रमके ग्रहणका कुछ प्रयोजन नहीं है।

समाधान–हे जनक ! संन्यास-आश्रमको छोड़ अन्य किसी आश्रममें सर्व कर्मोंका त्याग नहीं किया जा सकता क्योंकि निषिद्ध, काम्य, नित्य, नैमित्तिक ये चार प्रकारके कर्म शास्त्रमें कहे हैं। उनमें ब्रह्म-हत्यादि पापकर्म निषिद्ध हैं, स्वर्गादिकी प्राप्ति करानेवाले ज्योतिष्टोमादि याग काम्य हैं, सन्ध्या, अग्निहोत्रादि नित्य हैं, और सूर्यग्रहणमें स्नाना-दिका नाम नैमित्तिक कर्म है। बहिर्मुख पुरुष तो इन चारोंमेंसे निषिद्ध और काम्य कर्मोंको ही नहीं त्याग सकते क्योंकि ये कर्म भोगके अनुकूल हैं। शास्त्रविचारसे युक्त ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वान-प्रस्थ यद्यपि शास्त्रविचारसे निषिद्ध और काम्य कर्म त्याग सकते हैं, तो भी शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका त्याग संन्यास-आश्रमके सिवा अन्य आश्रमोंमें नहीं हो सकता। यदि किसी आश्रमके ग्रहण बिना ही प्रमादसे अथवा आलस्यसे ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका त्याग कर दें तो उनको पापकी प्राप्ति होती है, इसलिये तीनों आश्रमोंमें रहकर जो नित्य-नैमित्तिक कर्म करते हैं, उनका चित्त अन्तरात्मामें एकाग्र नहीं होता और जो आश्रमोंमें रहकर नित्य-नैमित्तिक कर्म न करें, उन्हें पापकी प्राप्ति होती है, इस प्रकार उनको दोनों प्रकारसे बन्धनकी प्राप्ति होती है। जो पुरुष शास्त्रोक्त रीतिसे संन्यास ग्रहण करके कर्मोंका परित्याग करता है उसको पापकर्मकी प्राप्ति नहीं होती, उलटे आनन्दकी प्राप्ति होती है। संन्यास ग्रहण किये बिना कर्म त्यागनेसे पाप होता है और पापसे अनेक प्रकारके दुःखोंकी प्राप्ति होती है। गीतामें कहा है—

'मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।'

जो पुरुष मोह अथवा आलस्यसे नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका परित्याग करता है, उसका त्याग तामस त्याग है, इससे उसको कुछ भी फलकी प्राप्ति नहीं होती, उलटे पापकी प्राप्ति होती है।

कर्म तथा संन्यासके अधिकारी

हे जनक ! स्रक्, चन्दन, स्त्री, धन, पुत्रादि विषयोंमें अत्यन्त आसक्त रागी पुरुषको आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, इसलिये विषयासक्त पुरुषको नित्य-नैमित्तिक कर्म ही करने चाहिये। जिसका चित्त विषयोंसे विरक्त हो, उसे कर्मरूप भार नहीं उठाना चाहिये। किन्तु सर्व कर्मोंको त्यागकर संन्यासाश्रम ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि स्वर्गादि फलकी प्राप्तिकी इच्छावालेको ही वेद भगवान् यज्ञादि कर्म करनेका विधान करते हैं। निष्कामके लिये नहीं करते, इसलिये विषयोंमें रागवान् पुरुष ही कर्मोंका अधिकारी है, रागरहित निष्काम पुरुष कर्मोंका अधिकारी नहीं है किन्तु संन्यासका अधिकारी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जबतक चित्त शुद्ध न हो तबतक पुरुष नित्य-नैमित्तिक कर्म अवश्य करे और जब उनके करनेसे चित्त शुद्ध हो जाय तब उनके करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है। इसलिये अधिकारी पुरुष कर्मोंको त्यागकर संन्यास लेकर निरन्तर वेदान्त-शास्त्रका विचार करे। यह बात अन्य शास्त्रमें भी कही है।

प्रत्यक् प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः।
कृतार्था न्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव ॥

जैसे वर्षाकालमें मेघ वृष्टिरूप प्रयोजन सिद्ध करके अन्तमें आप ही लय हो जाते हैं, इसी प्रकार नित्य-नैमित्तिक कर्म चित्तकी शुद्धिद्वारा बुद्धिको आत्मपरायण करके आप ही लय हो जाते हैं।

शंका-हे भगवन् ! अन्तरात्माके विचारमें तत्पर पुरुषकी नित्य-नैमित्तिक कर्मोंसे क्या हानि होती है ?

समाधान-हे जनक ! आत्मविचारमें तत्पर बुद्धिको जैसे विषय बहिर्मुख करते हैं, इसी प्रकार कर्म करते हैं, इसलिये चित्तशुद्धिपर्यन्त ही कर्मोंका उपयोग है, पश्चात् वे प्रतिबन्धक हैं, इसलिये उनका त्याग करना ही उचित है।

शंका-हे भगवन् ! संन्यासी भी भिक्षाटनादि कर्म करते हैं। जैसे भिक्षाटनादिसे उनकी बुद्धि बहिर्मुख नहीं होती, इसी प्रकार अग्निहोत्रादिसे हमारी बुद्धि भी बहिर्मुख नहीं होगी, फिर नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके त्याग करनेका क्या प्रयोजन है ?

समाधान-हे जनक ! अग्निहोत्रादिमें तत्पर पुरुष ही अग्निहोत्रादि कर सकता है, चित्तकी तत्परता बिना नहीं कर सकता, इसलिये अग्निहोत्रादिके समान भिक्षाटनादि संन्यासीकी बुद्धिको बहिर्मुख नहीं करते; क्योंकि जैसे भोजनकालमें अन्य पदार्थोंका चिन्तन करता हुआ भी चित्तकी तत्परता बिना ही हाथमें ग्रास लेकर मुखमें डाल लेता है, इसी प्रकार मनसे आत्माका चिन्तन करता हुआ संन्यासी चित्तकी तत्परता बिना ही भिक्षाटनादि कर्म करता है, इसलिये संन्यासीकी बुद्धि बहिर्मुख नहीं होती अथवा अग्निहोत्रादि न करनेसे जैसे गृहस्थको पाप लगता है, इस प्रकार भिक्षाटनादि न करनेसे संन्यासीको पाप नहीं होता, इसलिये संन्यासीका कर्म अग्निहोत्रादिसे विलक्षण है। इसीलिये हे जनक ! कर्मोंको विक्षेप मानकर पूर्व अधिकारी आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिके लिये विविदिषा संन्यास ग्रहण करके निरन्तर वेदान्तशास्त्रका श्रवण करते रहे हैं, इसी प्रकार अब भी करना चाहिये।

विद्वत्-संन्यास

हे जनक ! पूर्वमें संन्यासाश्रमके ग्रहण बिना ही जिनको पुण्यके प्रभावसे गृहस्थाश्रममें अथवा अन्य आश्रममें आत्मसाक्षात्कार हो गया है, उनको

यद्यपि ग्रहण-त्यागसे कुछ हानि-लाभ नहीं है, तो भी उन्होंने कर्मोंको विक्षेप और अनावश्यक मानकर संन्यासका ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि जिन्होंने अद्वितीय आनन्दस्वरूप आत्माका करामलक-समान साक्षात्कार किया है, वे भी जब विषयोंके समान कर्मोंको विक्षेप मानकर जीवन्मुक्तिके लिये संन्यास ग्रहण करते हैं तो आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिकी इच्छावाले मुमुक्षु कर्मोंको त्यागकर विविदिषा संन्यास ग्रहण करें, इसमें क्या आश्चर्य है? एक बार एक विद्वान् संन्यासीका एक गृहस्थसे यह संवाद हुआ।

गृहस्थ–हे यती! सुखका कारण प्रजा है, प्रजाका कारण स्त्री है, उस स्त्रीका संग्रह आपने क्यों नहीं किया?

संन्यासी–हे गृहस्थ! आत्मस्वरूप नित्यसुखसे अधिक लोकमें कोई सुख नहीं है, उस सुखका हम विद्वानोंने अपरोक्ष किया है, अतः विषयजन्य अनित्य सुखकी हमको इच्छा नहीं है। हे गृहस्थ! इस लोक अथवा परलोकमें पुत्रादि प्रजासे जो सुख उत्पन्न होता है, उस जन्यसुखका ही परम्परासम्बन्धसे स्त्री कारण है। जन्यसुखकी हमको इच्छा नहीं है, हम तो स्वयं ही सुखरूप हैं। पुत्रादि हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध करेंगे?

शंका–हे भगवन्!—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गं नैव च नैव च।

पुत्ररहित पुरुषकी गति नहीं होती और पुत्ररहितको स्वर्गकी भी प्राप्ति नहीं होती। इस शास्त्रमें पुत्रादि प्रजाको ही पिताके मोक्ष और स्वर्गका कारण कहा है, यह असंगत हो जायगा!

समाधान–भाई! यह वचन विषयासक्त रागी पुरुषके अभिप्रायको कथन करता है, इसलिये अनुवादरूप अर्थवाद है। इस वचनसे पुत्रादि प्रजामें मोक्षकी कारणता सिद्ध नहीं होती। यदि पुत्रादि प्रजासे मोक्ष होता हो, तो सूकरादिका भी मोक्ष होना चाहिये। पुत्रादि प्रजासे पिताको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, उलटा पालन-पोषण करनेमें पिता पापकर्म करता है, पापकर्मसे नरक प्राप्त होता है। भाई! जिस निरतिशय ब्रह्मानन्दरूप समुद्रके लेश-मात्रको ग्रहण करके ब्रह्मादि लोक भी आनन्दको प्राप्त होते हैं, वह ब्रह्मानन्द हम विद्वानोंके आत्मासे अभिन्न है, इसलिये हमको विषयजन्य सुखकी इच्छा नहीं है।

हे जनक! इस प्रकार वचन कहते हुए विद्वानोंने संन्यासाश्रमको ग्रहण करके केवल भिक्षावृत्तिसे शरीरका निर्वाह किया है। उनमेंसे किसीने तो पूर्व गृहस्थाश्रम करके पीछे संन्यासाश्रम ग्रहण किया है, किसी विद्वान्ने गृहस्थाश्रम ग्रहण किये बिना ही ब्रह्मचर्याश्रमसे संन्यासाश्रम ग्रहण किया है और लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा इन तीनों एषणाओंको त्यागकर केवल आत्मारूप नित्यसुखसे वे विद्वान् तृप्त रहे हैं।

आत्माका स्वरूप

हे जनक! पूर्व ग्रन्थमें परमात्मादेव स्वयं-ज्योतिरूप तथा आनन्दरूप मैंने तुझसे कहा था, उसी परमात्मादेवको विद्वान् अपने आत्मारूपसे साक्षात्कार करते हैं। परमात्मादेव मूर्त-अमूर्त, भाव-अभावरूप सम्पूर्ण जगत्‌से रहित है, स्वयं-ज्योतिरूप है, इसलिये वागादि इन्द्रियोंसे तथा सूर्यादि बाह्य प्रकाशोंसे ग्रहण नहीं किया जाता। हे जनक! इस लोकमें पदार्थोंका प्रकाश-रूप ग्रहण कर्त्ता, करण, कर्म, फल, सम्बन्ध इन पाँचों भेदोंकी अपेक्षासे होता है। कर्ता आदिके भेद बिना पदार्थोंका ग्रहण सिद्ध नहीं होता। जैसे घटादि पदार्थोंको यह पुरुष चक्षु-इन्द्रियसे ग्रहण करता है। इनमें पुरुष ही

कर्ता है, चक्षु-इन्द्रिय करण है, घट कर्म है और घटनिष्ठ ज्ञातता फल है और चक्षुका घटके साथ संयोग सम्बन्ध है। इन पाँचोंकी अपेक्षासे घटका ग्रहण होता है, उनके भेद विना किसी पदार्थका ग्रहण नहीं होता। यह आत्मादेव सजातीय, विजातीय, स्वगत तीनों भेदोंसे रहित है, इसलिये आनन्दस्वरूप आत्माका वागादि इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकतीं और सूर्यादि प्रकाश नहीं कर सकते, इसलिये श्रुति स्वयं-ज्योति आत्माको अगृह्य कहती है। हे जनक! आनन्दस्वरूप आत्मा सर्वभेदसे रहित है, इसलिये जैसे वस्त्रादि पदार्थ काल पाकर परिणामरूप शीर्णभावको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार आत्मा शीर्णभावको प्राप्त नहीं होता, इसलिये श्रुति आत्माको अशीर्य कहती है। आत्मा भेदरहित होनेसे भेदवाले अन्तर-बाहर पदार्थोंके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है, इसलिये असंगवान् आत्माको संगवान् रागी पुरुष जान नहीं सकते, किन्तु महात्मा विरक्त संन्यासी ही आत्म-साक्षात्कार कर सकते हैं।

अज्ञानका फल

हे जनक! पुण्य-पापरूप कर्म करनेवाले और न करनेवाले अज्ञानीको सर्वदा दुःखकी प्राप्ति करते हैं, आरम्भकालमें पापकर्मोंसे परम क्लेशकी प्राप्ति होती है, इसलिये अज्ञानीके दुःखके हेतु हैं। और अन्तमें दुःखरूप फलकी प्राप्ति करते हैं, तब भी अज्ञानीको परम दुःख होता है, इसी प्रकार पुण्यकर्मसे आरम्भमें दुःख होता है, और अन्तमें पुण्य क्षीण होनेपर भी दुःख होता है, इसलिये पुण्यकर्म आरम्भकालमें और अन्तमें कर्ता पुरुषके दुःखका कारण होते हैं। हे जनक! अज्ञानी पाप न करे तो दूसरे पापी जीवोंको पाप करते देखकर अपनेको उत्कृष्ट मानकर गर्व करता है, इसलिये पाप न करना अज्ञानीके ताप-का कारण है। इसी प्रकार अज्ञानी पुण्य न करे, तो दयावान् अज्ञानी पुरुष उसको निर्धन देखकर कृपा करके परम दुःखको प्राप्त होते हैं। यह बात अन्य शास्त्रमें भी कही है—

> ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधिनो नित्यशङ्कितः ।
> परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिनः ॥

ईर्ष्या करनेवाला, घृणावान्, संतोषसे रहित, क्रोधी, संशयवान्, परधनजीवी, ये छः पुरुष सर्वदा दुखी रहते हैं। अथवा जो पुरुष पुण्य नहीं करता, उसको सुखकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिये पुण्यकर्म अकर्ता अज्ञानीके तापका कारण है, अथवा इस लोक और परलोकमें पुण्यकर्म महान् सुखकी प्राप्ति करता है, जो अज्ञानी पुण्यकर्म नहीं करता, वह दूसरोंका सुख देखकर ईर्ष्या करके परम दुखी होता है। अथवा मरणकालमें अज्ञानी पुरुष पुण्य न करने और पाप करनेका पश्चात्ताप करके परम दुखी होता है। हे जनक! इस प्रकार पुण्य-पापरूप कर्म करने और न करनेवाले अज्ञानी जीवोंको सर्वथा तापकी प्राप्ति करता है। और उन पुरुषोंको गुरु-शास्त्रके उपदेशसे आत्मसाक्षात्कार हो जाता है, उन विद्वान् पुरुषोंको किये हुए अथवा न किये हुए पुण्य-पापरूप कर्म उन्हें तपायमान नहीं करते किन्तु मारुतिके समान वे पुण्य-पाप-कर्मरूप समुद्रको विना यत्न ही तर जाते हैं। आत्मज्ञानके प्रभावसे पुण्य-पापका अस्पर्श ही उनका तरना है। हे जनक! विद्वान्‌को पुण्य-पाप नहीं तपाते, इसका यह कारण है कि अज्ञानी पुरुष ऐसे संकल्प किया करते हैं कि ज्योतिष्टोम यज्ञसे मुझे स्वर्गलोककी प्राप्ति होगी, ब्रह्महत्यादि पापसे नरककी प्राप्ति होगी, पुत्रेष्टियज्ञसे मुझे पुत्रकी प्राप्ति होगी, अश्वमेधका फल दूसरे जन्ममें होगा, ब्राह्मणादिके धनका हरण करने-वाले मुझको शीघ्र ही कुष्ठ आदि रोगोंकी प्राप्ति

होगी, इस लोकमें मेरी अपकीर्ति होगी, इत्यादि अनेक प्रकारके संकल्प करके अज्ञानी जीव तपते रहते हैं और विद्वान् ऐसे संकल्प नहीं करते, इसलिये पाप-पुण्य कर्म उसको तपायमान नहीं करते।

हे जनक! वेदके मन्त्र कहते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारका अभेदज्ञान जिस पुरुषको होता है, उस विद्वान्की स्वरूपभूत महिमा तीन कालमें अन्यथा भावको प्राप्त नहीं होती, इसलिये विद्वान्की महिमा नित्य है। जैसे अज्ञानी जीव पुण्यसे वृद्धिको और पापसे लघुताको प्राप्त होता है, इस प्रकार विद्वान् वृद्धि अथवा लघुताको प्राप्त नहीं होता, इसलिये विद्वान्की महिमा अद्भुत है। हे जनक! जैसे पूर्वमें अधिकारी पुरुष अद्वितीय आत्माके साक्षात्कारसे नित्य महिमाको प्राप्त हुए हैं, इसी प्रकार आजकल भी अस्ति, भाति, प्रियरूपसे जो पुरुष अद्वितीय आत्माका साक्षात्कार करते हैं, वे भी उसी महिमाको प्राप्त होते हैं। आत्मसाक्षात्कार विना ऐसी महिमा प्राप्त नहीं होती, इसलिये अधिकारियोंको आत्म-साक्षात्कार अवश्य सम्पादन करना चाहिये।

रासलीला-रहस्य

(एक महात्माके उपदेशके आधारपर)

[वर्ष ११ पृष्ठ १४८० के बाद]

इस वृन्दारण्याकाशमें ही उडुराज परमानन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्रका अभ्युदय होता है। इनके अभ्युदयसे ही 'चर्षणीनाम्'—गोपाङ्गनाओंका शोकमार्जन 'प्राच्याः'—पूज्यतमा श्रीवृषभानुनन्दिनीका मुखविलिम्पन होता है। चर्षणी एक ओषधि भी है। जिस प्रकार चन्द्रकी अमृतमयी शीतल किरणोंसे उनकी शरत्कालीन सूर्य-ताप-जनित ग्लानिका निराकरण होता है उसी प्रकार ओषधिके समान परम सुकोमल स्वभाव व्रजाङ्गनाओंका विरहजनित सन्ताप भगवान्के करव्यापारोंसे निवृत्त हो जाता है।

अतः इसे इस प्रकार भी लगा सकते हैं—'चर्षणीनां शन्तमैः करैः शुचो मृजन्' तथा 'अरुणेन प्राच्या मुखं विलिम्पन्।' अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णरूप उडुराज अपने अत्यन्त सौख्यावह कल्याणमय करव्यापारोंसे चर्षणी यानी सुकुमारी गोपाङ्गनाओंका शोक—विरहजनित ताप शान्त करते हुए तथा अरुण यानी कुंकुमसे श्रीराधिकाजीका मुखलेपन करते हुए उदित हुए। यहाँ 'दीर्घदर्शनः' यह 'प्रियः' का विशेषण है। इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—'दीर्घे कमलपत्रवदायते दर्शने[1] नेत्रे यस्य' अर्थात् जिसके नेत्र कमलपत्रके समान विशाल हैं। इससे प्रियतमकी प्रेमातिशयता और निर्निमेपता द्योतित होती है; अर्थात् वह प्रियतमाके दर्शनमें इतना आसक्त है कि उसका निमेपोन्मेष भी नहीं होता।

यदि आध्यात्मिक पक्षमें देखें तो इसका तात्पर्य इस प्रकार होगा—

यदा यस्मिन्नेव काले भगवान् जनानां हृदयारण्ये रन्तुं मनश्चक्रे तदैव उडुराजः मोहनैशतमोव्याप्तान्तःकरणारण्याकाशे किञ्चित्प्रकाशनशीलशमदमादिरूपेषु उडुषु यः आह्लादप्रकाशात्मिकया भक्तिप्रभया राजते स भजनानन्दचन्द्रः उदगात्।

अर्थात् जिस समय भगवान्ने भक्तोंके हृदयरूप वनमें विहार करनेकी इच्छा की उसी समय उडुराज—जो मोहरूप घोर अन्धकारसे व्याप्त अन्तःकरणरूप आकाशमें कुछ-कुछ प्रकाशित होनेवाले शमदमादिरूप उडुओं (नक्षत्रों) में आह्लाद एवं प्रकाशात्मिका भक्तिरूप प्रभासे सुशोभित है वह भजनानन्दरूप चन्द्र उदित हुआ। इससे सिद्ध होता है कि जिस समय भगवान् अपने भक्तके हृदयमें रमण करनेकी इच्छा करते हैं तभी यह भजनानन्द चन्द्र उदित हो जाता है। वह क्या करता हुआ उदित हुआ?—

१. दृश्यते ईक्ष्यते अनेन इति दर्शने लोचने।

चर्षणीनां गतिभक्षणशीलानां कर्मतत्फलव्यासक्तमनसां जनानां शुचः आर्त्तीः स्वात्मभूतपरप्रेमास्पदभगवद्विप्रयोगवेदनाः ताः मृजन् ।

अर्थात् वह चर्षणी यानी कर्म और कर्मफलभोगमें आसक्तचित्त पुरुषोंके शोक—अपने आत्मभूत परप्रेमास्पद भगवान्के वियोगसे होनेवाली वेदनाका मार्जन करता हुआ उदित हुआ । अथवा कर्म और कर्मफलभोगजनित श्रान्ति ही आर्ति है या जितनी भी वेदनाएँ सम्भव हैं वे सभी आर्ति हैं, उन सभीका मार्जन करते हुए भगवान् उदित हुए । यहाँ 'शुचः' में बहुवचन है; इसलिये यह शोकोपलक्षित समस्त संसारका भी उपलक्षण है । किसके द्वारा शोक मार्जन करता हुआ उदित हुआ ?—

शन्तमैः करैः—स्वयं शन्तमाः परमसुखरूपाः अन्येषु कराः कं सुखं रान्ति समर्पयन्तीति कराः तैः भगवदीयगुणगणगानतानवितानादिभिः ।

शन्तम करोंसे अर्थात् जो स्वयं परम सुखरूप हैं और दूसरोंको सुख प्रदान करनेवाले हैं उन भगवद्गुणगानादिसे भक्तोंका शोक निवृत्त करता हुआ उदित हुआ । इस प्रकार यह भजनानन्दरूप चन्द्रका उदय समस्त शोकोंकी निवृत्ति करनेवाला है, क्योंकि जिस समय जीव भगवद्भजनमें प्रवृत्त होता है उसी समय उसके सारे पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं ।

मन-करि बिषय-अनल बन जरई । होइ सुखी जो एहि सर परई ॥

यह मनरूप मत्तगयन्द संसारानलमें जल रहा है; जिस समय यह भगवद्भजनमें लगता है उसी समय मानो शीतल गंगाजलमें अवगाहन करने लगता है ।

अब यह विचार करना चाहिये कि ये जो भजनानन्दचन्द्र, भक्तिरूपा प्रभा और गुणगानवितानादिरूप शन्तम कर हैं इनमें भेद क्या है ? क्योंकि बिना भेदके कोई व्यवहार नहीं हो सकता । वस्तुतः भगवद्भक्तिरूपा प्रभा और भगवदीय गुणगणगानतानादि भजनानन्दचन्द्रके अन्तर्गत ही हैं । इनका भेद 'राहोः शिरः' के समान केवल व्यवहारके लिये है । यद्यपि राहुका शिर राहुसे कोई पृथक् पदार्थ हो ऐसी बात नहीं है; तथापि लोकमें इसका इस प्रकार सम्बन्ध ग्रहणपूर्वक व्यवहार अवश्य होता है । जैसे 'देवदत्त हाथोंसे वृक्ष काटता है' इस वाक्यमें 'देवदत्त' कर्ता है और 'हाथ' करण हैं । इसलिये इन दोनोंमें भेद होना चाहिये । परन्तु वस्तुतः देवदत्त क्या है ? वह हाथ, पाँव, शिर आदिका संघात ही तो है । वह अवयवी है और हाथ-पाँव आदि उसके अवयव हैं । नैयायिकोंके मतानुसार अवयव कारण होता है और अवयवी उसका कार्य होता है । लोकमें कार्य अपने कारणके द्वारा ही सारे व्यापार किया करता है । इसलिये अवयवीमें मुख्यताका व्यपदेश होता है और अवयवमें गौणताका । इसी प्रकार भक्तिरूपा प्रभा और भगवद्गुणगानरूप किरणें अवयव हैं तथा भजनानन्दचन्द्र अवयवी है । अतः भजनानन्द कार्य है और भक्ति तथा भगवद्गुणगानादि उसके कारण हैं । यह भजनानन्दचन्द्र हृदयारण्यको सुशोभित भी करता है, क्योंकि जहाँ चन्द्रालोकका विस्तार नहीं होता वह स्थल रमणके योग्य भी नहीं होता । इसी प्रकार जिस हृदयमें भजनानन्दचन्द्रकी भक्तिरूपा प्रभाका विस्तार नहीं हुआ है वह भगवान्का रमणस्थल होनेयोग्य भी नहीं है ।

तथा वह भजनानन्दचन्द्र और क्या करते हुए उदित हुआ ?—

प्राच्याः—प्राचि भवा प्राची तस्याः प्राग्भवायाः बुद्धेः मुखं सत्त्वात्मकं प्रधानं भागं अरुणेन कुङ्कुमेनेव रागेण विलिम्पन् ।

अर्थात् वह प्राची यानी अपनेसे पूर्व उत्पन्न हुई बुद्धिके सत्त्वमय प्रधान भागको, अरुण कुंकुमद्वारा मुखलेपनके समान, अनुरक्त करता हुआ उदित हुआ । यही भजनानन्दचन्द्रका कार्य है । जिस प्रकार अग्निसे पिघले हुए लाखमें रंग भर देनेपर वह उसी रंगका हो जाता है उसी प्रकार यह बुद्धिके सत्त्वात्मक भागको द्रवीभूत करके उसमें भगवत्स्वरूपरूपी रंग भर देता है । इससे वह बुद्धिसत्त्व भगवन्मय हो जाता है और फिर किसी समय उसे भगवान्की विस्मृति नहीं होती ।

तथा वह भजनानन्दचन्द्र है कैसा ?—

ककुभः—कं सुखं तद्रूपतया कुषु कुत्सितेष्वपि भाति शोभत इति ककुभः ।

—क सुखको कहते हैं वह सुखरूपसे कुत्सितोंमें भी भासमान है इसलिये ककुभ है । उस भजनानन्दचन्द्रका आलोक पड़नेपर तो चाण्डाल भी कृतकृत्य हो सकता है, यथा—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।

तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥

अर्थात् हे प्रभो ! जिसकी जिह्वापर आपका नाम विराजमान है वह श्वपच भी इन (भक्तिहीन द्विजों) की अपेक्षा श्रेष्ठ है। जो आपका नामोच्चारण करते हैं उन महानुभावोंने तो सब प्रकारके तप, होम, स्नान और वेदपाठ कर लिये। यही नहीं, आपके नामोंका श्रवण या कीर्तन करनेसे तथा कभी आपको प्रणाम या स्मरण कर लेनेसे चाण्डाल भी शीघ्र ही सवनकर्मका अधिकारी हो सकता है; फिर हे भगवन्! जिन्हें साक्षात् आपका दर्शन हुआ हो उनके विषयमें तो कहना ही क्या है ?

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तना-
द्यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्॥

सवनकर्मका अधिकार केवल द्विजोंको ही है। अतः इस श्लोकमें जो 'सद्यः' शब्द है उसका 'तत्काल' अर्थ करके कोई-कोई ऐसा कहने लगते हैं कि भगवत्स्मरणके प्रभावसे चाण्डाल भी उसी जन्ममें सवनाधिकारी यानी द्विज हो सकता है। परन्तु ऐसी बात नहीं है। 'सद्यः' का अर्थ शीघ्र है और शीघ्रता सापेक्ष हुआ करती है। शास्त्रसिद्धान्त तो ऐसा है कि पशु एवं तिर्यक् योनियोंको भोग चुकनेपर जब जीवको मनुष्यशरीर प्राप्त होता है तो सबसे पहले उसे पुल्कसयोनि मिलती है। उससे उत्तरोत्तर कई जन्मोंमें स्वधर्मपालन करते-करते वह वैश्य होता है; और तभी उसे द्विजोचित कृत्योंका अधिकार प्राप्त होता है। अतः यहाँ 'सद्यः' शब्दसे यही तात्पर्य है कि यदि कोई चाण्डाल स्वधर्मनिष्ठ रहकर भगवच्चिन्तन करेगा तो उसे एक-दो जन्मके पश्चात् ही द्विजत्वकी प्राप्ति हो जायगी; अनेकों जन्मोंमें नहीं भटकना पड़ेगा। यह क्रम स्वधर्मनिष्ठोंके ही लिये है। स्वधर्मका आचरण न करनेपर तो शूद्रको भी पुनः चाण्डाल-योनि प्राप्त होती है। जैसे कहा है—

कपिलाक्षीरपानेन ब्राह्मणीगमनादपि।
वेदाक्षरविचारेण शूद्रश्चाण्डालतामियात्॥

अर्थात् कपिला गौका दूध पीनेसे, ब्राह्मणीके साथ मैथुन करनेसे और वेदाक्षरका विचार करनेसे शूद्र भी चाण्डालत्वको प्राप्त हो जाता है। और यदि शूद्र स्वधर्ममें तत्पर रहे तो उसी जन्ममें देहपातके अनन्तर स्वर्ग प्राप्त कर सकता है।

स्वधर्मे संस्थितः नित्यं शूद्रोऽपि स्वर्गमश्नुते।

अतः स्वधर्मका अतिक्रमण कभी न करना चाहिये।

यदि कहो कि तत्क्षण ही क्यों न माना जाय ? तो ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि जाति नित्य है, वह नामस्मरणमात्रसे परिवर्तित नहीं हो सकती। यदि नामस्मरणमात्रसे जातिपरिवर्तन हो सकता तो गर्दभीको भी नाम सुनाकर कामधेनु बनाया जा सकता था। परन्तु ऐसा नहीं होता। जाति जन्मसे होती है, अतः उसका परिवर्तन जन्मान्तरमें ही हो सकता है। जिस प्रकार गौ एवं गर्दभादि योनियाँ हैं उसी प्रकार ब्राह्मण और चाण्डालादि भी योनियाँ हैं। श्रुति कहती है—'ब्राह्मणयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।'

तात्पर्य यह है कि चाहे जातिपरिवर्तन हो या न हो परन्तु नामस्मरणसे चाण्डाल भी परम पवित्र तो अवश्य हो सकता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसकी अस्पृश्यता निवृत्त हो जाती है। पवित्रता दो प्रकारकी है; जातिनिमित्तक और कर्मनिमित्तक। कर्मनिमित्तक पातित्य पुण्य-कर्मसे निवृत्त हो सकता है, किन्तु जातिनिमित्तक पातित्य कर्मसे निवृत्त नहीं हो सकता। चाण्डालका पातित्य जातिनिमित्तक है। अतः चाण्डालशरीर रहते हुए उसकी अव्यवहार्यताका प्रयोजन पातित्य निवृत्त नहीं हो सकता। किन्तु भगवत्स्मरणसे वह कर्मजनित पातित्यसे मुक्त होकर शुद्धान्तःकरण हो जाता है और उसके द्वारा वह भगवत्प्राप्ति भी कर सकता है; उसका कुल पवित्र हो जाता है और उसे परलोकमें वह गति प्राप्त होती है जो भक्तिहीन ब्राह्मणके लिये भी दुर्लभ है। इसीसे भगवान्ने भी कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

अतः सिद्ध हुआ कि वह भजनानन्दचन्द्र, कुत्सितोंको भी सुख प्रदान करता है इसलिये ककुभ है।

'प्रियः' भी उस भजनानन्दचन्द्रका ही विशेषण है। वह भजनानन्दचन्द्र मानो विषयी, मुमुक्षु और मुक्त सभी प्राणियोंके परम प्रेमका आस्पद है। वह लोकमनोऽभिराम होनेके कारण विषयी पुरुषोंको और भवौषध होनेके कारण मुमुक्षुओंको प्रिय है। तथा जीवन्मुक्तोंको भी वह अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि इसीके कारण उन्हें भगवत्सान्निध्यरूप परमोत्कृष्ट वैभव प्राप्त हुआ है। इसीसे श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

अस बिचारि जे संत सयाने। मुकुति निरादरि भगति लुभाने॥

अतः बहुत-से अद्वैतनिष्ठ तत्त्वज्ञजन भी कल्पित भेदको स्वीकारकर निश्छलभावसे अति तत्परतापूर्वक भगवान्की भक्ति किया करते हैं; जैसा कि कहा है—

.... ।
यत्सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात् ॥
स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वाद्वयं पदम् ।
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः ॥

अर्थात् जो पूर्ण अद्वैतपद सुभक्तोंद्वारा फलाभिसन्धिरूप कैतव (कपट) से रहित होकर उपासित होता है, क्योंकि जो लोग लौकिक या पारलौकिक अभिलाषाओंसे पूर्ण होंगे उनकी उपासना कैतवशून्य नहीं हो सकती। हाँ, जो मुक्त हो गया है उसे अवश्य किसी वस्तुकी आकांक्षा नहीं रहती; अतः वही निष्कपट उपासना भी कर सकता है।

इससे निश्चय हुआ कि सुभक्त जो ज्ञानीलोग हैं उनके द्वारा वह अद्वयतत्त्व अत्यन्त प्रीतिपूर्वक उपासित होता है। जिन लोगोंने समस्त प्रपञ्चका मिथ्यात्व निश्चय कर लिया है वे ही किसी पदार्थमें आसक्ति और प्राप्तव्य बुद्धि न होनेके कारण अद्वयभावसे उसकी अकैतव उपासना कर सकते हैं। परन्तु यहाँ शंका होती है कि यदि उन जीवन्मुक्तोंका कोई प्रयोजन ही नहीं होता तो वे भजनमें प्रवृत्त ही क्यों होंगे? इस सम्बन्धमें हमारा कथन है कि यद्यपि जीवन्मुक्त महात्माओंपर शास्त्रका शासन नहीं होता, क्योंकि वे कृत-कृत्य हो जाते हैं, जैसा कि कहा है—

गुणातीतः स्थितप्रज्ञो विष्णुभक्तश्च कथ्यते ।
एतस्य कृतकृत्यत्वाच्छास्त्रमस्मान्निवर्तते ॥

अर्थात् प्रथम कोटिमें साधक यथाविधि वैदिक और स्मार्त्त कर्मोंका अनुष्ठान करके उपासनाद्वारा चित्तके दोषोंको निवृत्त करता है; फिर श्रवण, मनन और निदिध्यासनद्वारा भगवान्का साक्षात्कार करनेपर गुणातीत, जीवन्मुक्त या स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। इस क्रमसे कर्म और उपासनामें पूर्वमीमांसा, श्रवणमें उत्तरमीमांसा, मननमें न्याय और वैशेषिक तथा निदिध्यासनमें सांख्य और योगदर्शनका कार्य समाप्त हो जाता है। इस प्रकार कृतकृत्य हो जानेके कारण फिर अपना कोई प्रयोजन न रहनेके कारण शास्त्र उस महापुरुषसे निवृत्त हो जाता है। तथापि अपने पूर्वाभ्यासके कारण उससे कर्म और उपासना स्वभावतः होते रहते हैं। श्रीमधुसूदनस्वामी कहते हैं—

अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः ।

अर्थात् जिस प्रकार उनमें स्वभावसे ही अद्वेष्टृत्वादि गुण रहते हैं उसी प्रकार भगवान्का भजन करना भी उनका स्वभाव ही है।

यहाँ एक शंका यह भी होती है कि भक्ति तो भेदमें होती है और तत्त्वज्ञोंकी अभेददृष्टि रहा करती है; फिर वे भक्तिभावमें कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं? इसपर कहते हैं 'विभेदभावमाहृत्य' अर्थात् वे भेदभावका अध्याहार करके भगवान्का भजन करते हैं। इस प्रकारका काल्पनिक भेद सब प्रकार मंगलमय ही है। इसीसे कहा है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया ।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥
अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं भजनहेतवे ।
तादृशी यदि भक्तिश्चेत्सा तु ज्ञानशताधिका ॥

अर्थात् द्वैत तभीतक मोहजनक होता है जबतक ज्ञान नहीं होता; जिस समय विचारद्वारा बोधकी प्राप्ति हो जाती है उस समय तो भक्तिके लिये कल्पना किया हुआ द्वैत अद्वैतकी भी अपेक्षा सुन्दर है। यदि पारमार्थिक अद्वैतबुद्धि रहते हुए भजनके लिये द्वैतबुद्धि रक्खी जाय तो ऐसी भक्ति तो सैकड़ों मुक्तियोंसे भी बढ़कर है। भाष्यकार भगवान् श्रीशंकराचार्यजीकी भक्ति भी ऐसी ही थी; इसीसे वे कहते हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

अर्थात् हे नाथ! यद्यपि आपका और मेरा भेद नहीं है तथापि मैं ही आपका हूँ आप मेरे नहीं हैं, क्योंकि तरंग ही समुद्रका होता है, समुद्र तरंगका कभी नहीं होता।

इसी विषयमें किसी भावुकका कथन है—

प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम् ।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ
ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्यात् ॥

अर्थात् प्रियतमा चाहे तो प्रणयविधिसे प्रियतमके वक्षःस्थलपर विहार करे और चाहे उसके चरणयुगलकी परिचर्यामें लगी रहे—एक ही बात है। इसी प्रकार जिसे परमार्थबोध प्राप्त हो गया है वह चाहे तो निर्विकल्प समाधिमें स्थित रहे और चाहे भगवान्के भजन-पूजनमें लगा रहे—कोई भेद

नहीं है। जो लोग विचारशून्य हैं उन्हींकी दृष्टिमें भगवान्का आत्मत्वेन साक्षात्कार उनका अपमान है। यदि विचारकर देखा जाय तो इस प्रकारका अभेद तो प्रेमातिशयकी रीति ही है। प्रेमका अतिरेक होनेपर तो भेदभावकी तिलाञ्जलि हो जाती है। जो अरसिक हैं, उत्कृष्ट प्रेमातिशयके रहस्यको जाननेवाले नहीं हैं उनकी दृष्टिमें प्रियतमाका प्रियतमके वक्षःस्थलमें विहार करना अयुक्त हो सकता है, किन्तु रसिकजन तो जानते हैं कि प्रेमातिरेकमें ऐसा ही हुआ करता है। अतः अभेदरूपसे स्वरूपसाक्षात्कार हो जानेपर भी काल्पनिक भेद स्वीकार करके निष्कपटभावसे भक्ति हो ही सकती है। तत्त्वज्ञोंके यहाँ ऐसी ही भक्तिका स्वीकार है। इस प्रकार यह भजनानन्दचन्द्र विषयी, मुमुक्षु और मुक्त सभीके लिये प्रिय है।

इसके सिवा और भी वह भजनानन्दचन्द्र कैसा है ?—'दीर्घदर्शनः—अनपबाध्यं दर्शनं यस्य' अर्थात् जिसका दर्शन—ज्ञान किसीसे बाधित नहीं होता। जो ज्ञान भ्रमात्मक होता है वह तो ज्ञानान्तरसे बाधित हो जाता है, किन्तु यह भजनानन्दचन्द्र ज्ञानान्तरसे बाधित होनेवाला नहीं है, यह ज्ञानान्तराबाध्य भजनानन्दचन्द्र चर्वणियोंके शोकका मार्जन करता तथा प्राग्भवा तमोव्याप्ता बुद्धिके सत्त्वात्मक प्रधान भागको अनुरागात्मक कुंकुमसे लेपन करता हुआ उदित हुआ, जिस प्रकार कोई चिरप्रोषित प्रियतम प्रवाससे लौटकर अपनी प्रियतमाके शोकाश्रुओंका मार्जन करते हुए करधृत कुंकुमसे उसके मुखका लेपन करता है। (क्रमशः)

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

प्र०—राम-कृष्णादिमें भगवद्भाव किया जाता है या वे स्वयं भगवान् थे ?

उ०—वे भगवान् ही थे। इसमें शास्त्र, युक्ति और अनुभव सभी प्रमाण हैं। जो वस्तु प्रत्यक्ष होती है वह भाव नहीं हो सकती।

प्र०—यदि भगवान् प्रत्यक्ष हैं तो साधन क्यों किया जाता है ?

उ०—भजन-साधन अनुरागके लिये किया जाता है। भगवान् तो प्रत्यक्ष ही हैं; किन्तु अनुराग प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिये उसीके लिये प्रयत्न करना चाहिये। संसारबन्धनसे छुड़ानेवाली वस्तु अनुराग ही है। संसारकी कारण अहंता और ममता हैं। इनका नाश अनुरागसे ही हो सकता है। देखो, यह देखा जाता है कि कोई-कोई लोग हमसे प्रसाद पानेपर उसे स्वयं न खाकर अपने बच्चोंके लिये ले जाते हैं। उन्हें प्रसाद खाना अप्रिय नहीं होता; परन्तु अपने बालकोंमें विशेष अनुराग होनेके कारण वे उसे स्वयं न खाकर उन्हें खिलाते हैं। इसी प्रकार जो भगवदनुरागी है वह अपनी सारी ममता भगवान्को समर्पण कर देता है। ममताका समर्पण ही सर्वस्व समर्पण है और वही मुक्ति है।

प्र०—ईश्वर प्रत्यक्ष कैसे है ?

उ०—ईश्वर प्रत्यक्ष है—इसमें शंका नहीं करनी चाहिये। इसमें शास्त्रप्रमाण भी है। संसारमें जो-जो वस्तु सुन्दर दिखायी देती है उसमें ईश्वरकी ही छटा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥*
(गीता १०। ४१)

प्रत्येक वस्तुमें जो भी आकर्षण करनेवाली चीज है वही ईश्वर है, वस्तुमें जो सौन्दर्य है वही ईश्वर है। लोग शुद्ध सौन्दर्यको ग्रहण नहीं करते वे उसे किसी

* संसारमें जो-जो वस्तु ऐश्वर्यसम्पन्न, सौन्दर्यमय और उन्नतिशील है उसे मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जानो।

वस्तु या क्रियाके साथ मिलाकर देखते हैं; इसीलिये उनका वस्तुओंके प्रति राग-द्वेष होता है। यदि शुद्ध सौन्दर्यको ग्रहण किया जाय तो राग-द्वेष हो ही नहीं सकता। किन्तु उसे संसारी पुरुष ग्रहण नहीं कर सकते, उसे तो प्रेमी ही ग्रहण कर सकता है।

प्र०—अनुराग कैसे हो ?

उ०—निरन्तर चिन्तनसे। यदि तुम्हारा चित्त भगवान् श्रीकृष्णकी ओर आकर्षित होता है तो तुम निरन्तर उन्हींका चिन्तन करो। ऐसा करते-करते अनुरागकी उत्पत्ति होगी और संसारबन्धन छूट जायगा।

प्र०—वेदान्त ग्रन्थोंमें आता है कि उपासक प्रतिमामें विष्णु आदिका तथा नाममें भगवद्बुद्धिका आरोप करता है; किन्तु उपासक तो उसे आरोप नहीं समझता; फिर यह कथन किसकी दृष्टिसे है ?

उ०—उपासक और तत्त्ववेत्ता दोनोंकी ही दृष्टिमें इसे आरोप नहीं कहा जा सकता। यह कथन केवल जिज्ञासुकी दृष्टिसे है, जो जड और चेतन दोनोंकी सत्ता स्वीकारकर उनका विवेक करता है। भक्तकी दृष्टिमें भगवद्विग्रह और भगवन्नाम जड नहीं हैं, वे चिन्मय हैं; और बोधवान्‌की दृष्टिमें तो जो कुछ है वह सभी सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसके लिये तो एक अखण्ड चिद्घन सत्तासे भिन्न और किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं है।

प्र०—यदि भक्तको भगवद्विग्रह भगवान् ही जान पड़ता है और तत्त्वतः भी वह भगवान् ही है तो फिर उसे उपासना करनेकी क्या आवश्यकता है ? उपासनाका उद्देश्य तो भगवत्प्राप्ति ही है और भगवान् उसे प्राप्त हो हैं।

उ०—भगवद्विग्रह साक्षात्सच्चिदानन्दस्वरूप ही है—इसमें सन्देह नहीं; परन्तु ऐसा दृढ़ भाव सब उपासकोंको नहीं होता। अतः उन्हें निश्चल भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये उपासना करनी ही चाहिये। उपासनाका मुख्य उद्देश्य भी भगवत्प्राप्ति नहीं बल्कि भगवत्प्रेमकी प्राप्ति है। जीवके कल्याणके लिये वस्तुतः भावकी हो प्रधानता है। उपासकोंको जाने दो, देखा जाय तो व्यवहारमें भी बिना भावके कोई आनन्द नहीं है। विवेकदृष्टिसे विचार किया जाय तो माता-पिता ही क्या हैं ? उनके शरीर केवल अस्थि, मांस और चर्मादिके पिण्ड ही तो हैं। फिर भी उनके प्रति जो पूज्यबुद्धि होती है वह सब प्रकार कल्याणकारिणी ही है। स्त्रीके शरीरमें क्या सुन्दरता है ? उसमें ऐसी एक भी वस्तु नहीं जिसे रमणीय या पवित्र कहा जा सके। परन्तु उसमें रमणीयताका आरोप करके मनुष्य ऐसा आसक्त हो जाता है कि उसे धर्माधर्मका भी ज्ञान नहीं रहता। अपने शरीरकी ओर देखो तो वह भी कुछ कम गंदा नहीं है। परन्तु उसके मोहमें फँसकर लोग कितना अनाचार करते हैं। इस प्रकार जब व्यवहारमें भी भावकी इतनी प्रधानता है तो प्रतिमामें जो भगवद्भाव किया जाता है वह किस प्रकार व्यर्थ हो सकता है। भगवान् तो सबमें हैं, सबसे परे हैं, सब हैं और सर्वासर्वरूप भी हैं; अतः प्रतिमामें जो भगवद्भाव किया जाता है वह अन्यमें अन्य बुद्धि नहीं है। उसे जो आरोप कहा है वह केवल जिज्ञासुकी दृष्टि है।

मोर-मुकुट

(लेखक—एक भावुक)

स्वप्न और जाग्रत्की प्रशान्त सन्धिमें बाँसुरीकी स्वरलहरीके साथ ठुमुक-ठुमुककर पादविन्यास करते हुए उन्होंने प्रवेश किया । स्थितिमें गति, एकतामें अनेकता एवं शान्तिमें एक मधुर क्रान्तिका सञ्चार हो गया । वह अनन्त शान्ति, वह रहस्यरस और वह एकरस ज्ञानका अनन्त पारावार न जाने कहाँ अन्तर्हित—अन्तर्दृष्टिके एकान्तमें विलीन हो गया ? न जाने कहाँ ? नहीं नहीं, यह तो भूल थी । वह प्रत्यक्ष आँखोंके सामने अमूर्त्तसे मूर्त्त होकर, निराकारसे साकार होकर और निर्गुणसे अनन्त दिव्य-गुण-सम्पन्न होकर अपनी रसभरी चितवनसे मुझे अपने साथ रमण करने—खेलनेका प्रणयाह्वान करने लगा ।

अब मैंने देखा । हमारी चार आँखें हुईं । परन्तु यह क्या ? एक क्षणमें ही मेरी आँखें लज्जासे अवनत क्यों हो गयीं ? बात ऐसी ही थी । मैं अपराधी था । सचमुच जब प्राप्त करनेवाले और प्राप्त करनेयोग्य वस्तुके भेदसे रहित उस विचित्र वस्तुकी प्राप्ति इस प्रकार स्वयं ही प्राप्त हो गयी, तब मैं चकित-सा रह गया । यकायक विश्वास न कर सका । एक हल्की-सी अवहेलना हो ही गयी । परन्तु दूसरे ही क्षण सँभल गया । ऐसा सँभला, ऐसा सँभला, मानो ज्ञानवान् होनेके पश्चात् 'वासुदेवः सर्वमिति' की ही तत्त्वतः अनुभूति हो गयी हो । एक महान् प्रकाश फैल गया और मानो उसने कहा भी—'अब उनके साथ रमण होगा । अबतक आनन्दका उपभोग तुम कर रहे थे, भले ही वह भोक्तृत्वहीन रहा हो । परन्तु अब ? अब तो तुम्हारा उपभोग होगा । अब रासक्रीडा होगी ।' मैंने भाष्य कर लिया—'वास्तवमें प्रेम या आनन्द भोग अथवा भोक्तृत्वहीन भोग (मोक्ष) में नहीं है वह तो उनका भोग्य हो जानेमें ही है । इसीको तो प्रेमभक्ति कहते हैं ।'

उस प्रकाशमें मैंने क्या देखा ? हाँ, अवश्य कुछ देखा तो था । हाँ, वही मेरे प्राणप्यारे श्यामसुन्दर बाँसुरी बजाते हुए ठुमुक रहे थे । चरणोंकी किंकिणी 'रुनझुन' की उल्लासपूर्ण ध्वनिसे चिदाकाशको मुखरित कर रही थी । पीताम्बर फहरा रहा था । परन्तु उसका मुँह पीछेकी ओर था । सुन्दर अलकावलीसे दिव्य पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी परन्तु उनमेंसे एक भी मेरी ओर नहीं आ रहा था । ऐसा क्यों ? वे स्वयं मेरी ओर आ रहे थे । मैं सहमकर एक बार उस अनूपरूपराशिको सर्वांग देखना चाहा, परन्तु देख न सका । बीचमें ही मुस्कराकर उन्होंने आँखोंको विवश कर दिया । वे एकटक वहीं लग गयीं । न आगे बढ़ीं, न पीछे हटीं । न चढ़ीं और न उतरीं । न जाने कितना समय बीत गया । गजबकी मुस्कराहट थी ! अजब जादू था !!

अब मुझे ध्यान आया । भगवान् स्वयं मेरे सामने खड़े-खड़े मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं । अरे ! अबतक मैंने कुछ स्वागत-सत्कार नहीं किया । अर्घ्य-पाद्यतक न दिया । हाँ, हुआ तो ऐसा ही । परन्तु यह क्या ? उन्होंने स्वयं अपने हाथों स्वागत-सत्कारका आयोजन कर लिया है ? ऐसा ही जान पड़ता है । प्रकृतिके आत्यन्तिक लयके पश्चात् यह नूतन प्रकृति कहाँसे आयी ? हाँ, हाँ, यही इनकी दिव्य प्रकृति है । यह चिन्मय है, इनकी लीलाकी सहकारिणी है । हाँ,

इसमें तो सजीव स्फूर्ति है, नवीन ही जागृति है और भरा हुआ है दिव्यजीवन। इसका स्वागत भी अपूर्व है।

अब मैंने उस ओर दृष्टि डाली। हाँ, तो पैरोंके तले हरे-हरे दिव्य दूर्वादलके कालीन बिछे हुए हैं। तारामण्डित गगनका बड़ा-सा वितान तना हुआ है। सफेद चाँदनीकी ठंडी और उजली रोशनीसे पत्ते-पत्तेमें जगमग ज्योति झिलमिला रही है। अधखिली कलियोंका सौरभ लेकर हवा पंखा झल रही है। वृक्षोंने अपने रसभरे फलोंसे झुकी हुई डालियाँ सामने कर दी हैं। परन्तु वे, वे तो बस पूर्ववत् बाँसुरीके रसीले रन्ध्रोंसे राग-अनुरागके समुद्र उँड़ेलनेमें लगे हैं। मैं चकित-स्तम्भित होकर केवल देख रहा था।

मैंने स्तुति करनेकी ठानी। परन्तु मेरे 'ठानने' का क्या महत्त्व? भ्रमरोंने अपनी गुंजारको उनके वेणुनादसे मिलाकर गुनगुनाना प्रारम्भ किया। कोयलोंने अपने 'कुहू-कुहू' की मञ्जुल ध्वनि निछावर कर दी। थोड़े-से साँवले-साँवले बादलोंने तबलोंकी तरह मन्द-मन्द ताल भरनेकी चेष्टा की, परन्तु दो-चार क्षणमें ही वे कुछ नन्हीं-नन्हीं सफेद बूँदोंके रूपमें 'रस' बनकर चरण पखारने आ गये। अब-तक झुंड-के-झुंड मयूर आकर थिरकने लगे थे।

अब वे घिर गये। चारों ओर मयूरोंका दल अपने पिच्छ फैलाकर नाच रहा था और बीचमें श्यामसुन्दर अबाधगतिसे पैंजनीसे स्वरसाम्य रखते हुए बाँसुरी बजानेमें तल्लीन थे। मैं अनुभव कर रहा था—उनके लाल-लाल अधरोंसे निकलकर अणु-अणु, परमाणु-परमाणुमें मस्ती भर देनेवाले मोहन-मन्त्र-का! हाँ, तो सब मुग्ध थे, सब-के-सब उस अनुरागभरे रागकी धारामें बह गये थे। किसीको तन-वदनकी सुध नहीं थी। सुध रखनेवाला मन ही नहीं था। हाँ, वे, बस वे, सबकी ओर देखते हुए भी मुझे ही देख रहे थे। बिना जतनके ही मेरे रोम-रोमसे वही वेणुके आरोह-अवरोह क्रमसे मूर्च्छित स्वरलहरी प्रवाहित हो रही थी। शरीर, प्राण, हृदय और आत्मा सब-के-सब उस रागके अनुरागमें रँगकर किसी अनिर्वचनीय रसमें डूब गये थे। सबकी आँखें मोहनके मुखकमलपर निर्निमेष लग रही थीं। बहुत समय बीत गया होगा। परन्तु वहाँ समय था ही कहाँ?

अच्छा, यकायक मुरलीध्वनि बंद हो गयी। ऐं, ऐसा क्यों हुआ? परन्तु हुआ ऐसा ही। जबतक सबकी आँखें खुलें, होश सँभले, तबतक उन्होंने झपटकर एक मयूरके गिरे हुए पिच्छको अपने कर-कमलोंसे उठाकर सिरपर लगा लिया। सबकी आँखों-में आँसू आ गये, सभीका हृदय पिघल गया। सब-के हृदयने एक स्वरसे कहा—

'प्रियतम! तुम्हारा प्रेम अनन्त है। तुम्हारी रसिकता अनिर्वचनीय है। आजसे तुम मोर-मुकुट-धारी हुए।' उन्होंने मुस्कुराकर आँखोंके इशारेसे स्वीकृति दी।

उसी समय उनके पास कई ग्वालबाल आते हुए दीख पड़े और वे उनमें मिलकर खेलते-कूदते दूसरी ओर निकल गये।

अब मुझे मालूम हुआ कि वास्तवमें यह जाग्रत्-स्वप्नकी सन्धि वृन्दावन है और इसमें वे लीला करते हैं।

नादानुसंधान

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं
त्वां साधनं तत्त्वपदस्य जाने ।
भवत्प्रसादात्पवनेन साकं
विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥

अकारादि वर्णोंकी उत्पत्ति जिस वर्णरहित ध्वनिसे हुई है, उस ध्वनिको नाद और उसमें मनोवृत्ति लगानेकी क्रियाको नादानुसंधान कहते हैं। उत्पत्तिभेदसे यह नाद दो प्रकारका होता है—जीवोंद्वारा इच्छापूर्वक किया हुआ नाद और जड पदार्थोंसे उत्पन्न नाद—ये दोनों प्रकार भी अवान्तर भेदसे अनन्तविध हैं। अतः शास्त्रोंमें 'नादकोटिसहस्राणि' कहा गया है।

इन अनन्तविध नादोंमेंसे जो नाद अविच्छिन्न, धाराप्रवाह नित्य-निरन्तर या निश्चित समयतक अवस्थित रह सकें, जो कर्कश न हों, उनका उपयोग साधनरूपसे मनके बन्धनार्थ किया जा सकता है। किन्तु जो नाद अविच्छिन्न न रह सकें, रूपान्तरित हो जायँ या मनको व्यग्र करनेवाले हों, उनका उपयोग नादानुसंधानके अभ्यासार्थ नहीं हो सकता। जैसे गंगाजी या अन्य नदियोंके अनेक स्थानोंपर जल-प्रवाहके कारण एक प्रकारका शान्त मधुर घोष निरन्तर होता रहता है, उसमें अभ्यासीजन अपनी वृत्तियोंको लगानेका तो अभ्यास कर सकते हैं परन्तु बादलोंका गर्जन अथवा अन्य विविध प्राणिजन्य ध्वनियाँ जो अस्थिर और रूपान्तरित होती रहती हैं, इस प्रकारके अभ्यासयोग्य नहीं हो सकतीं।

किन्तु नदियोंसे उत्पन्न नाद या इतर सुमधुर स्थिर नाद साधन नहीं हैं, क्योंकि उनमें अभ्यास करनेवालोंको बाह्यसाधनोंकी प्राप्ति नहीं होती। अतः इस हेतुसे तथा बाह्यसाधनोंकी अपेक्षा आन्तर साधन विशेष उपकारक होते हैं, इस दृष्टिसे हमारे शास्त्रकारोंने समस्त मानव देव अथवा यों कहें कि प्राणिमात्रके शरीरमें रक्ताभिसरण-क्रियासे उत्पन्न होनेवाले अविच्छिन्न धाराप्रवाह अनाहतनाद (आन्तरनाद) का आश्रय लेनेका विधान किया है।

मनुष्यका मन स्वच्छन्द और अतिचंचल होता है, मनकी स्वेच्छाचारितासे ही समस्त जीव-समुदाय बारम्बार विपत्तियोंका शिकार होता रहता है तथा मनका परब्रह्ममें लय न होनेके कारण ही जीवोंको भय और दुःखसे रहित शाश्वत सुखकी प्राप्ति नहीं होती। इस बातको सभी विवेकी संतजन भलीभाँति जानते हैं। और मनको परब्रह्ममें लय करानेके लिये नादानुसंधान निर्भय तथा उत्तम साधन है, यह बात भी शास्त्रप्रसिद्ध है। अतः नादानुसंधानका अभ्यास करना संत-महात्माओंने अति आदरणीय माना है।

आन्तरनादका शास्त्रोक्त पद्धतिके अनुसार नित्य-नियमितरूपसे अनुसंधान करते रहनेसे वासनाक्षय और मनोवृत्तिका लय हो जाता है। मनका लय करानेके सम्बन्धमें शास्त्रमें अधिकारी, रुचि और देशकालके भेदसे अनेक साधन बतलाये गये हैं। परन्तु उन सबमें आन्तरनादको ही मुख्य माना गया है—

'नास्ति नादात्परो मन्त्रो न देवः स्वात्मनः परः ।
नानुसन्धेः परा पूजा नहि तृप्तेः परं सुखम् ॥'

(योगशिखोपनिषत्)

'सदाशिवोक्तानि सपादलक्ष-
लयावधानानि वसन्ति लोके ।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं
मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ॥'

(योगतारावली)

'न नादसदृशो लयः ।'

(हठयोगप्रदीपिका)

इन सबका तात्पर्य यह है कि नादसे परे कोई मन्त्र नहीं है। अनाहत नादके आन्तरमें विराजमान आत्मासे परे कोई देव नहीं है। इसके अनुसंधानसे परे कोई पूजा नहीं है और उससे जो सुख मिलता है, उससे परे कोई आनन्द नहीं है। भगवान् सदाशिवने इस विश्वमें प्राणिमात्रके कल्याणार्थ सवालाख साधनोंका निरूपण किया है, परन्तु उन सबमें नादानुसंधान ही सर्वोत्तम है। नादानुसंधानके समान मनका लय करानेके लिये अन्य कोई प्रबल साधन है ही नहीं।

इसी प्रकार संत-शिरोमणि श्रीचरणदासजीने भी अपने ग्रन्थमें नादकी महिमा गायी है—

अनहदके सम और ना, फक्र बरन्यो नहिं जाय ।
पटतर कछू न दे सकूँ, सब कुछ है वा माय ॥

पाँच थके आनँद बढ़े, अरु मन है। बस होय।
शुकदेव कही चरनदाससे, आप अपन जाय खोय॥
नाडिनमें सुषुम्ना बड़ी, सो अनहदकी मात।
कुंभकमें केवल बड़ा, वह बाहीका तात॥
मुद्रा बड़ी जो खेचरी, बाकी बहिनी जान।
अनहद-सा बाजा नहीं, और न या सम ध्यान॥
सेवकसे स्वामी होवे, सुने जो अनहद नाद।
जीव ब्रह्म होय जाय हैं, पावै अपनी आद॥
खिड़की खोली नादकी, मिले ब्रह्ममें जाय।
दसों नादके लाभकी, महिमा कही न जाय॥

जैसे पथको छोड़कर मनमानी राहपर चलनेवाले उन्मत्त गजेन्द्रको वशमें करनेके लिये अङ्कुशकी सहायता लेनी पड़ती है, वैसे ही पारमार्थिक कल्याणको छोड़कर विषयोंके पीछे भटकनेवाले मनरूपी मदोन्मत्त गजेन्द्रको काबूमें लानेके लिये आन्तरनादरूपी अङ्कुशकी सहायता ली जाती है। अथवा जिस तरह किसी वृक्षकी शाखामें डोरी बाँधकर, यदि डोरीका दूसरा सिरा किसी पक्षीके पैरमें बाँध दिया जाय तो पक्षी बार-बार उड़नेका प्रयत्न करनेपर भी अन्तमें परवश होकर उसी शाखापर विश्रान्ति लेता है, उसी तरह यदि परब्रह्मरूपी अचल आधारसे सम्बन्ध रखनेवाले नादरूपी डोरीका सिरा मनरूपी पक्षीके वृत्तिरूपी पैरमें बाँध दिया जाय तो मन विषयोंके वनमें चाहे जितना दौड़नेका प्रयत्न करे, अन्तमें थककर वह उसी चिदाकाशरूप आधारकी शरण ग्रहण करता है।

इस आन्तरनादके अनुसन्धानका अभ्यास करनेके लिये अधिकारी बननेकी और नियम पालन करनेकी बड़ी आवश्यकता है। पुरुष, स्त्री, बालक, युवा, वृद्ध, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी इन सबमेंसे जिन्होंने प्राणायाम, मुद्रा, आसन, त्राटकादि षट्कर्म, अजपा (श्वासोच्छ्वासपर लक्ष्य रखना), मन्त्र, ध्यान, देव-सेवा, ओषधि-कल्प-सेवन आदि शास्त्रवर्णित साधनोंमेंसे किसी एक या अधिक साधनोंद्वारा अपनी नाडियोंके सञ्चित मलका शोधन किया है, उन्हींको नादानुसन्धानका अधिकारी माना गया है। इन अधिकारियोंमेंसे भी जो नित्य नियमित समयपर केवल एक बार सात्त्विक पथ्य (लघु भोजन) ग्रहण करता है, जो ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, सदाचार, क्षमा, अद्रोह, इन्द्रियदमन, विषय-सेवनमें उदासीनता, अस्तेय, एकान्तवास, ईश्वर-परायणता, पवित्रता आदि नियमोंका पालन करता हुआ अभ्यासके लिये श्रद्धा तथा उत्साहपूर्वक प्रयत्न, ब्राह्ममुहूर्तादि शान्त वातावरणके समयपर सप्रेम अभ्यास एवं व्यावहारिक और शारीरिक अधिक प्रवृत्तियोंका सङ्कोच करता है, उसके शरीरमें रक्ताभिसरण-क्रियासे उत्पन्न नाद क्रमशः अनुभवमें आते जाते हैं। किन्तु जिन व्यक्तियोंने नाडीस्थ मलदोषका शोधन न किया हो और जो आहार-विहारादि उपर्युक्त नियमोंका पालन न करते हों; उन्हें इस योग-मार्गमें प्रवेश ही नहीं करना चाहिये।

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, नादानुसन्धानका अभ्यास सूर्योदयसे पूर्व, पवित्र, एकान्त, निर्जन स्थानमें बैठ करके ही करना चाहिये। क्योंकि प्रातःकालमें वायुमण्डल शीतल होनेके कारण नादका भान स्पष्टरूपसे होता है, उस समय वृत्ति अधिक कालतक नादमें स्थिर रह सकती है, शरीर और मनमें थकावट या उपरामता नहीं आती, बाहरसे विघ्न उपस्थित होनेकी सम्भावना कम रहती है और व्यावहारिक वासनाका उद्भव भी प्रायः नहीं होता है। दिनके उष्ण वातावरणमें इससे बिल्कुल विपरीत स्थिति रहती है। वायु-मण्डल अनेक प्रकारकी ध्वनियोंसे क्षुब्ध रहता है। उष्णताके कारण रक्ताभिसरणक्रिया मन्द पड़ जाती है। नादका श्रवण तैलधारावत् अविच्छिन्न नहीं होता। मनमें तरह-तरहकी सांसारिक वासनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। वृत्तियाँ चञ्चल हो उठती हैं। तन और मन दोनों अल्पकालमें ही थक जाते हैं। बाहरसे विघ्नोंकी भी कमी नहीं रहती। इन सब बातोंके अतिरिक्त पेटमें अपक्व आहार-रस रहनेके कारण नाद मन्द पड़ जाता है और आलस्य भी आने लगता है। अतः किसी भी अशान्तकालमें तथा भोजन पच जानेके पूर्व साधकोंको नादानुसन्धानका अभ्यास नहीं करना चाहिये।

ऋतुओंमें भी ग्रीष्मादि उष्ण ऋतुओंकी अपेक्षा शिशिरादि शीतल ऋतुओंमें नाद अधिक वेगके साथ उठता है। और नाड़ियोंके मलका शोधन भी अन्य ऋतुओंकी अपेक्षा वसन्त और शरत्कालमें ही अधिक सरलतासे तथा जल्दी होता है। लेकिन वसन्तके बाद ग्रीष्म ऋतु आ जाती है और शरत्के बाद हेमन्त तथा शिशिर—ये शीतल ऋतुएँ आती हैं। अतः नादानुसन्धानमें प्रवेशकी इच्छा रखने-वालोंको शरद्-ऋतुसे मलशोधनकी क्रियाका आरम्भ करना विशेष लाभदायक है।

यद्यपि किसी उष्ण-उत्तेजक ओषधिका सेवन करनेसे रक्ताभिसरण-क्रिया अधिक बलवती बनती है और उसके

कारण नाद जोरसे उठता है परन्तु उष्णताका शमन होनेपर अथवा हृदय-यन्त्र और नाडियोंके थक जानेपर पुनः स्वल्प-कालमें ही नाद अति शिथिल हो जाता है एवं नाडियोंमें कफ-मलकी उत्पत्ति भी अधिक मात्रामें होने लगती है, इसलिये नाद उठानेके लिये किसी उत्तेजक ओषधिकी सहायता लेना, लाभकी अपेक्षा बहुत हानिकारक है।

प्राणिमात्रके आत्यन्तिक कल्याणकी भावना करनेवाले जो संतजन नादानुसन्धानके अभ्यासी होते हैं, उनका शरीर यदि कहीं वृद्धावस्था अथवा दुष्ट प्रारब्धजनित दोषके प्रकोपसे व्याधिग्रस्त हो जाता है, तो भी उन्हें नादानुसन्धान सहज स्वभावसिद्ध हो जानेके कारण क्लेश नहीं होता—वे आनन्दित ही बने रहते हैं। यदि कहीं ज्वरदोषसे उनके शरीरमें उष्णताकी वृद्धि हो जाती है तो उनकी रक्ताभिसरण-क्रिया नैसर्गिक नियमानुसार वेगपूर्वक होने लगती है, जिससे नाड़ियोंका संगृहीत मल जलने लगता है। फिर नाद जोरसे उठता है। ऐसी पीड़ाके प्रसंगमें भी सन्त-महात्माओंकी वृत्ति आन्तर नादमें एकाग्र या लयभावको सत्वर प्राप्त हो जाती है। उन्हें शारीरिक कष्ट सर्वथा भूल जाता है, परन्तु अन्य सांसारिक लोग जो नादानुसन्धानका अभ्यास नहीं रखते ऐसी व्यथाके समय वेदनासे बेचैन होकर 'हाय-हाय' मचाने लगते हैं। यहाँतक कि उनकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाले सम्बन्धी-सहायकोंका भी उनके मारे नाकों दम हो जाता है। ऐसे ही व्याधिकालमें सन्त और संसार-लोलुप अज्ञानीजनोंके धैर्यमें भेद विदित होता है।

नादानुसन्धानके अभ्यासियोंको अभ्यासके प्रारम्भ तथा अन्तमें प्राचीन परम्पराके अनुसार नित्यप्रति निम्नलिखित श्लोक ध्यान और भावनाके साथ बोलकर अन्तर्यामीको प्रणाम करना चाहिये—

गमागमस्थं गमनादिशून्यं
चिद्रूपदीपं तिमिरान्धनाशम्।
पश्यामि तं सर्वजनान्तरस्थं
नमामि हंसं परमात्मरूपम्॥

इसके पश्चात् अपनी सम्पूर्ण मानसिक चिन्ताओंको छोड़कर तथा पूरी सावधानीके साथ लक्ष्य रखकर अभ्यास करना चाहिये। यह बात वराहोपनिषद्में इस प्रकार समझायी गयी है—

पुङ्खानुपुङ्खविषयेक्षणतत्परोऽपि
ब्रह्मावलोकनधियं न जहाति योगी।
सङ्गीततालल्यवाद्यवशं गतापि
मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव॥
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥

अर्थात् जैसे नटी सिरपर जलके कई घड़ोंको एक साथ रखकर नाच-गान करती रहती है; उसके नृत्यकी मर्यादा, स्वर, राग, भाव, ताल इत्यादि दर्शकोंको आनन्दित करते रहते हैं और साथ-ही-साथ वह अपने जलपात्रोंको भी सम्हालती रहती है, वैसे ही योग-साम्राज्यकी इच्छावाले नादानुसन्धानके अभ्यासीको सांसारिक कार्य करते हुए भी अपनी वृत्तियाँ नादमें लगाते रहना चाहिये तथा नादमें ब्रह्मभावना करते रहना चाहिये। आसन लगाकर अभ्यास करनेके समय जप, नेत्रवृत्तिद्वारा ध्यान, इधर-उधर देखना-सुनना, संकल्प-विकल्प, स्मरण, विचारादि सब प्रकारकी मानसिक चेष्टाओं और क्रियाओंका परित्याग करके सावधान चित्तसे केवल नादरूप ब्रह्मका अनुसंधान करते रहना चाहिये।

नादानुसंधानके अभ्यासको नटकी नटबाजीके समान केवल शारीरिक क्रिया नहीं मानना चाहिये, वरं उसे ब्रह्म-भावनापूर्वक करना चाहिये। बिना ऐसी भावना किये शास्त्रकथित फलकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। शास्त्रोंमें इस प्रकार कहा गया है—

'मनश्चन्द्रो रविर्वायुर्दृष्टिरग्निरुदाहृतः।
बिन्दुनादकला ब्रह्मन् विष्णुब्रह्मेशदेवताः॥
(योगशिखोपनिषद्)

"ब्रह्मप्रणवसन्धानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः।"
(नादबिन्दूपनिषद्)

"अथो नादमाधाराद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं शुद्धस्फटिक-संकाशं स वै ब्रह्म परमात्मेत्युच्यते॥"
(हंसोपनिषद्)

"अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते॥"
(योगशिखोपनिषद्)

इस रीतिसे और भी अनेक मन्त्रोंमें नादानुसंधानादि सब योगक्रियाओंको ब्रह्मभावना तथा देवभावनापूर्वक करनेका विधान किया गया है।

नादानुसंधानका अभ्यास सिद्धासनसे बैठकर और शाम्भवी मुद्राका आश्रय लेकर करनेसे सत्वर फलदायी होता है। नादबिन्दूपनिषत्में कहा गया है—

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय वैष्णवीम् ।
शृणुयाद् दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ॥

योगीको सिद्धासनसे बैठकर वैष्णवी और शाम्भवी मुद्राओंका * अनुसंधान करके अर्थात् बाह्यवृत्तिको आन्तरमें प्रवेश कराके सुषुम्णाके आन्तर प्रदेशसे उठनेवाले नादको दक्षिण कर्णमें सर्वदा सुनते रहना चाहिये ।

सर्वदा नादानुसंधानका अभ्यास करते रहनेसे वासनाका क्षय हो जाता है, जिससे मनकी बाह्य विषयोंमें भटकनेकी इच्छा स्वयमेव कम हो जाती है । और मन शीघ्र ही प्राणके साथ मिलकर परब्रह्ममें विलीन हो जाता है ।†

नादानुसंधानके प्रारम्भिक अभ्यासकालमें साधकोंकी कर्णनालीमें मल-संचय होता रहता है । उससे नादका श्रवण सम्यक्‌रूपसे नहीं होने पाता । इसके लिये निम्नलिखित ओषधियोंकी कर्णमुद्रा बनाकर दोनों कानोंमें धारण करनी चाहिये । यह रिवाज वृद्धपरम्परानुगत है—

कस्तूरी १ रत्ती, जायफल २ रत्ती, जावित्री ३ रत्ती और लौंग ६ रत्ती ।

इन ओषधियोंके प्रमाणमें साधक चाहे तो देशकालानुसार कमी-बेशी भी कर सकता है । इन ओषधियोंको मिलाकर खरलमें इनका बारीक चूर्ण बना देना चाहिये फिर १ रत्तीसे ३ रत्ती तकके चूर्णको नवीन लाल सूती या रेशमी वस्त्रके टुकड़ेमें डालकर अंगूर अथवा जामुनकी आकृतिके सदृश छोटी-सी गुण्डी बना लेना चाहिये और उसे एक डोरेसे मज़बूतीके साथ बाँध देना चाहिये । गुण्डीपर डोरा बाँधनेके स्थानसे वस्त्रका भाग लगभग चौथाई इञ्चके बराबर शेष लम्बा रहने देना चाहिये, ताकि मुद्रा उस भागको पकड़कर इच्छानुसार कानमें धारण कर सके और जब चाहे बाहर निकाल सके ।

मुद्रा कानके छिद्रानुरूप छोटी-बड़ी बनायी जाती है । प्रारम्भमें छोटी ही बनानी चाहिये ताकि वह सरलतापूर्वक कानमें जा सके तथा उसे निरन्तर धारण करनेपर भी दुःखका भान न हो । इस प्रकार स्नानकालके अतिरिक्त शेष सब समयोंमें यदि मुद्रा धारण की जाय तो थोड़े ही दिनोंमें कानकी मैल दूर हो जाती है और नादश्रवण स्पष्ट होने लगता है ।

कर्णमुद्राको धारण करनेके बाद कर्णनाडीमेंसे मल निकलकर बराबर मुद्रामें लगता रहता है । इसलिये कर्णमुद्राको दिनमें दो-चार या अधिक बार निकालकर पोंछ लेना चाहिये और फिर उसे तुरन्त ही धारण कर लेना चाहिये । ऐसा करनेसे थोड़े ही दिनोंमें कर्णनाडी शुद्ध हो जाती है तथा स्पष्टरूपसे नादका श्रवण होने लगता है । यदि अभ्यासके प्रारम्भकालमें कर्णमुद्रा कुछ बड़ी होनेके कारण कानको पीड़ा पहुँचाने लगे तो उसे दो-चार दिनके लिये बिल्कुल निकाल देना चाहिये । फिर जब वेदना शान्त हो जाय तब पहलेकी अपेक्षा छोटी मुद्रा बनाकर थोड़े-थोड़े समयतक धारण करना चाहिये और धीरे-धीरे समय बढ़ाते रहना चाहिये । इस प्रकार जब कानोंको पूरी तरह अभ्यास हो जाय तब फिर बड़ी मुद्रा बनाकर धारण करना चाहिये ।

कर्णमुद्रा धारण करनेसे कानकी मैल तो निकलती ही है इसके अलावा मनोवृत्तिको बारम्बार नादमें लगानेकी स्मृति भी हो जाती है । और बाह्य ध्वनियोंमें जो वृत्ति कम दौड़ती है सो तो है ही । इन लाभोंकी दृष्टिसे कर्णमुद्रा बनाकर वर्षोंतक धारण किया जाय तो उससे वृत्तिको लय करनेमें सहायता ही मिलती है । हानि कदापि नहीं होती । कतिपय योगाभ्यासीजन उपर्युक्त मुद्राके स्थानमें तुलसीकी शाखा या अकलकराके मूलको घिसकर और उसकी मुद्रा बनाकर धारण करते हैं, किन्तु इससे उतना लाभ नहीं होता । और नाजुक प्रकृतिवालोंसे यह सहन भी नहीं होता । कुछ संत महात्मा मोम, सरसोंका तेल और रूईको मिलाकर एक कटोरीमें डाल उसे अग्निपर पिघलाते हैं । तत्पश्चात् उसमें थोड़ी-सी कस्तूरी मिलाकर उसकी मुद्रा बना लेते हैं । यह मुद्रा मुलायम रहती है और इसको वे केवल अभ्यास करनेके समय धारण करते हैं । यह मुद्रा कानोंमें शीशीपर डाटकी भाँति सुदृढ़ लग जाती और उससे बाहरके शब्द बिल्कुल सुनायी नहीं देते । परन्तु इस मुद्राका उपयोग अभ्यासरहित कालमें नहीं हो सकता, क्योंकि यह नरम रहती है तथा इसके द्वारा अन्तरस्थ मलका आकर्षण नहीं होता ।

साधकोंको समझानेके लिये हंसोपनिषत्‌में नाडियोंके शोधनभेदसे आन्तरनादके १० भेद किये गये हैं । किसी ग्रन्थकारने भ्रमर, वेणु, घण्ट और समुद्रनाद—ये चार भेद

---

* अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता
एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥
(शाण्डिल्योपनिषत्)

† सदा नादानुसन्धानात् संक्षीणा वासना भवेत् ।
निरञ्जने विलीयेत मरुन्मनसि पद्मज ॥
(योगशिखोपनिषत्)

तथा किसी ग्रन्थकारने आठ भेद भी किये हैं। किन्तु हंसोपनिषत् कथित दस भेद ही साधकोंको उनकी मानसिक प्रगति बतलानेके लिये विशेष हितावह है, ऐसा मानकर यहाँ उन्हीं भेदोंका उल्लेख किया जाता है—

चिणीति प्रथमः। चिञ्चिणीति द्वितीयः। घण्टानादस्तृतीयः। शङ्खनादश्चतुर्थः। पञ्चमस्तन्त्रीनादः। पष्ठस्तालनादः। सप्तमो वेणुनादः। अष्टमो मृदङ्गनादः। नवमो भेरीनादः। दशमो मेघनादः।

इन नादोंमेंसे प्रथम नादका अनुभव अन्य नादोंकी अपेक्षा पहले होता है। सन्ध्याके समय छोटे-छोटे जीव-जन्तुओंद्वारा की हुई 'चीं-चीं' की आवाजको पहला नाद कहा जाता है। इस नादके श्रवणके पश्चात् ही क्रमशः द्वितीय-तृतीय नादोंका अनुभव होता है। ऐसा भी होता है कि कहीं-कहीं किसी साधकको चतुर्थ, पञ्चम या सप्तमादि नादोंमेंसे किसी एक या अधिकका अनुभव नहीं होता और जल्दी ही नाड़ीका अधिकांशमें शोधन होकर पञ्चम षष्ठ या अष्टमादि नादोंका अनुभव हो जाता है। जैसे किसी साधकको पञ्चम तन्त्रीनादका अनुभव तो नहीं होता किन्तु आगेका तालनाद या वेणुनाद खुल जाता है। इसी प्रकार किसी-किसी कनिष्ठ अधिकारीको पञ्चमादि नादोंका अनुभव हो जानेके बाद भी प्रारब्धदोषसे या भूल—प्रमादवश नाडियोंमें मल सञ्चित हो जानेके कारण पुनः उनका लोप हो जाता है। और उलटे चतुर्थ, तृतीय या प्रथम नादका श्रवण होने लगता है।

इससे यह विदित हुआ कि साधकोंको आग्रहपूर्वक नाडी-शुद्धिपर ध्यान रखना चाहिये। प्राणायाम साधनोंके अभ्यासद्वारा जैसे-जैसे अधिकाधिक नाडी-शुद्धि होती जायेगी, वैसे-वैसे ही प्रथम, द्वितीय, तृतीयादि नाद भी क्रमशः खुलते जायँगे। और जब नाडियोंकी शुद्धि पूर्णांशमें हो जायेगी, तब दशम मेघनाद या समुद्रध्वनिके सदृश नादका प्रत्यक्ष हो जायेगा। इस दसवें नादकी उत्पत्ति हो जानेपर वृत्तिका लय शीघ्र ही होने लगता है। दशम नादके श्रवणके पश्चात् भी प्रायः नित्य-प्रति थोड़े-थोड़े समयतक अन्य नादोंका श्रवण होता रहता है। किन्तु उनके बाद दशम नाद तो अभ्यासकी समाप्तितक या वृत्तिलय होनेतक श्रवणगोचर होता रहता है।

जो साधक प्राणायामका अभ्यास न करते हुए सोऽहं (अजपा गायत्री) प्रणव या अपान तत्त्वको शीघ्र ऊपर उठानेवाले अन्य मन्त्रोंका जप करके नादानुसंधानमें प्रवेश करते हैं, उनको प्रथमादि नाद जैसे-जैसे श्रवणगत होते जाते हैं, वैसे-वैसे शरीर तथा मनपर भिन्न-भिन्न प्रकारके असर होते जाते हैं। यह बात हंसोपनिषत्में अत्यन्त स्पष्टरूपमें लिखी गयी है—

प्रथमे चिञ्चिणीगात्रं द्वितीये गात्रभञ्जनम्।
तृतीये खेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः॥
पञ्चमे स्रवते तालु षष्ठेऽमृतनिषेवणम्।
सप्तमे गूढविज्ञानं परा वाचा तथाष्टमे॥
अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथामलम्।
दशमे परमं ब्रह्म भवेद् ब्रह्मात्मसन्निधौ॥

अर्थात् पहला नाद खुलनेपर सारे शरीरमें खाज आने लगती है और ऐसा मालूम होता है, मानो शरीरपर चीटियाँ चल रही हों! द्वितीय नादका श्रवण होनेपर हाथ-पैर फड़कते हैं तथा उनकी नाड़ियाँ खींचने लगती हैं। तृतीय नादका प्रकाश होनेपर सिरमें भारीपन आ जाता है, जिससे दुःखका भान होता है। चतुर्थ शंखनादके प्रारम्भकालमें सिर काँपने लगता है। पंचम नादका अनुभव होनेके समय मस्तिष्कमेंसे स्वादरहित रस निकलकर तालुद्वारा मुँहमें आता रहता है। षष्ठनाद—तालनादकी उत्पत्ति होनेपर मस्तिष्कमेंसे टपकनेवाला रस स्वादु बन जाता है। और उस रसका पान करते रहनेसे शरीरको अमृतके समान पोषण मिलता रहता है। सप्तम नादमें वृत्ति लगनेपर मन एकाग्रभावको प्राप्त हो जाता है, जिससे आन्तर विज्ञानका प्रकाश होने लगता है। अष्टम मृदङ्ग नादमें एकाग्रता अधिक कालतक रहकर परा वाचाका ज्ञान होता है। उससे सूक्ष्म संस्कार तथा अन्य व्यक्तिके हृद्गत विचारोंका अनुभव हो सकता है। नवम नादका परिचय होनेपर नाडियोंका मलदोष शमन हो जाता है, वृत्ति निरुद्ध होने लगती है तथा दिव्य चक्षुकी प्राप्ति हो जाती है। फलतः दूर देश और दूर कालकी क्रिया तथा वस्तुतकका साक्षात्कार हो सकता है इस नवम नादके श्रवणसे शरीरका भान नहीं रह जाता है। इन नवों नादोंके अन्तमें, जब मस्तिष्क-देशमें चक्कर-सा आकर अन्तिम दशम नादका प्रादुर्भाव हो जाता है तब थोड़े ही समयमें वृत्तिका विलय होने लगता है। उस समय द्रष्टा-दर्शन-दृश्य, ध्याता-ध्यान-ध्येय, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय इत्यादि त्रिपुटियाँ विलीन हो जाती हैं और जीव शिवभावको प्राप्त हो जाता है।

किन्तु जो साधक त्राटक, षट्चक्रभेदन और प्राणायामादि साधनोंका अभ्यास करके अपान तत्त्वको प्राणतत्त्वमें मिलाकर उसको अधिक वेगपूर्वक उर्ध्वभागमें चढ़ाता है, उसको सप्तम नाद सुननेके पश्चात् भ्रूमें (कहीं-कहीं हृदयमें) ज्योति-दर्शन प्राणापान तत्त्वका दर्शन होता रहता है। यह प्रकाश कभी-कभी तो जल्दी ही विलीन हो जाता है और कभी-कभी दीर्घकालतक स्थिर रहता है। जब प्रकाशकी उत्पत्ति होती है, तब नेत्रवृत्ति सहज ही उस ओर आकर्षित हो जाती है। और जो श्रवणवृत्ति नादमें लगी थी, उसमें थोड़ा विक्षेप हो जाता है। अनेक साधकोंकी वृत्ति समानभावसे दोनों ओर भी रह सकती है और अनेककी नहीं। वृत्ति केवल नादमें रहे या स्थिर प्रकाश होनेपर केवल प्रकाशमें रहे अथवा नाद और ज्योति दोनोंमें रहे; इस बातमें कोई आग्रह नहीं है। हाँ, यदि वह नादमेंसे हटकर केवल ज्योतिमें ही लगी रहेगी तो निरुद्धावस्थाकी प्राप्तिमें थोड़ी देर हो जायगी। फिर भी साधकोंको ऐसे समयपर संकल्प-विकल्प या बलात्कार नहीं करना चाहिये। वृत्ति थोड़े समयके पश्चात् स्वयमेव नादमें लगकर निरुद्ध होने लगेगी। साधकोंको चाहिये कि वे अपने चित्तको साक्षी भावसे स्थिर रक्खें। ऐसा करनेसे थोड़े ही समयमें मन प्राणसहित ब्रह्ममें विलीन हो जाता है।

जैसे दूध और जलका मिश्रण होनेपर उनका एक ही रूप बन जाता है, वैसे ही नाद और मन एकीभूत होकर चिदाकाशमें लय हो जाते हैं। अथवा जिस प्रकार भ्रमर पुष्पके मकरन्दका पान करते समय उसके सुगन्धकी अपेक्षा नहीं करता उसी प्रकार मनरूपी भ्रमर नादरूपी पुष्पमें स्थित रहनेवाले स्वस्वरूपानन्दरूपी मकरन्दका पान करते समय विषयानन्दकी आकाङ्क्षा नहीं रखता। अथवा जिस तरह एक मणिधर सर्पकी वृत्ति मनोहर ललित स्वरमें लग जानेपर वह अचञ्चल होकर मूर्तिवत् स्थिर हो जाता है, उसी तरह मनरूपी अन्तरङ्ग भुजंगेन्द्रकी वृत्ति दिव्य आन्तर नादमें मिल जानेके कारण अपनी चपलता खोकर लयभावको प्राप्त हो जाता है।

दशम नादकी प्राप्तिके पश्चात् सर्वदा नादानुसंधानका अभ्यास करते रहनेसे वृत्तिलय दृढ़ हो जाता है तथा अवसर पड़नेपर शारीरिक वेदनासे अथवा सिंह, व्याघ्र या दुन्दुभि आदिकी आवाज़से भी वृत्तिभङ्ग नहीं होता। वृत्तिलय हो जानेपर शरीर काष्ठके समान निश्चेष्ट बन जाता है। और उन्मनी अवस्था—तुर्यावस्थाकी प्राप्ति हो जाती है। तत्पश्चात् शीतोष्णादिजनित सुख-दुःख या मानापमानादिका असर मनपर होता ही नहीं। इस रीतिसे नादानुसंधानद्वारा संतजन जाग्रदादि अवस्थात्रयसे मुक्त होकर स्वस्वरूपमें स्थित हो जाते हैं। ऐसे संतजनोंकी स्थिति नादबिन्दूपनिषत्के अन्तिम मन्त्रमें इस प्रकार गायी गयी है—

दृष्टिः स्थिरा यस्य विना सदृश्यं
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं
स ब्रह्मतारान्तरनादरूपः॥

हरिः ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः
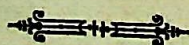
संत-सूरमा

बेर-बेर पावकमें कंचन तपाय तऊ,
रंचक ना रंग निज अंगको मिटावै है।
चन्दन सिलानपर घिसत अमित तऊ,
सुंदर सुगंध चारों ओर सरसावै है॥
पेरत हैं कोल्हू माँहि ऊखकों अधिक तऊ,
मंजुल मधुरताई नेकु न नसावै है।
गोविंद कहत तैसे कष्ट पाय काय तऊ,
सुजन सुभाव नाहिं आप बदलावै है॥

—गोविन्दगिल्ला

संतशिरोमणि श्रीप्राणनाथजी

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीकृष्णप्रियाचार्यजी)

इस रत्नगर्भा वसुन्धरामें यों तो साधनाकी चरम सीमापर पहुँचे हुए अनेकों तरणतारण संत-महात्मा अवतीर्ण हुए हैं तथापि सद्गुरु स्वामी श्रीप्राणनाथजी महाराजमें बहुत-सी लोकोत्तर विशेषताएँ पायी गयी हैं। आपका जन्म नवानगर-निवासी श्रीकेशवरायजीके घरमें उनकी हरिभक्तिपरायणा धर्मपत्नी श्रीधन्यावतीदेवीके गर्भसे हुआ था। आपके जन्मकी विलक्षण कथा इस प्रकार है। संवत् १६७४ की अगहन बदी तेरसको आपकी माता प्रातःकाल नहा-धोकर भगवान् श्रीसूर्यनारायणको नमस्कार कर रही थीं। इतनेमें उन्होंने देखा कि सूर्यमण्डलसे उसका अनति-उष्ण बिम्ब सम्मुख आ रहा है! थोड़ी देरमें वह बिम्ब मुखद्वारा उनके उदरमें प्रवेश कर गया और वे मूर्छित हो गयीं। जब होश आया तब उन्होंने सारा वृत्तान्त अपने पतिदेवसे कहा। वे भी बड़े भगवद्भक्त थे। उन्होंने कहा 'यह श्रीभगवान्‌की अलौकिक लीला है!' तदनन्तर वह बिम्ब गर्भरूपमें परिणत हो गया और संवत् १६७५ की आश्विन कृष्णा चौदस रविवारको जब कि श्रीधन्यावतीदेवी नित्य-नियमानुसार अपने इष्टदेवका पूजन-अर्चन करके ध्यानमें बैठी थीं, उनके आगे एक अत्यन्त सुन्दर सुकुमार बालक आविर्भूत हो गया! उधर उन्होंने अपने उदरपर हाथ फेरा तो वह फूलके समान हलका मालूम हुआ! बस, वे इस दैवी लीलाको समझ गयीं तथा यह संवाद बड़े वेगके साथ घर-घर फैल गया! सबके आनन्द-का ठिकाना न रहा। इसीसे कुछ लोग इन्हें सूर्यका अवतार कहते हैं। तत्पश्चात् समय आनेपर माता-पिताने इस अलौकिक बालकका नाम श्रीमिहिरराज रक्खा। यही श्रीमिहिरराज आगे चलकर 'श्रीप्राणनाथ प्रभु', 'श्रीजी साहब', 'मरु', 'श्रीइन्द्रावती' और 'इन्दिरा' आदि नामोंसे सुविख्यात हुए।

श्रीप्राणनाथजी महाराज जब बारह वर्षके हुए तभीसे आपने परम तप करना आरम्भ कर दिया। उसे हम कसनी कहते हैं। विद्याएँ तो सब पहलेसे ही आपकी चेरी थीं, फिर भी लोकलीलाके संरक्षणार्थ आपने शास्त्रोंका विधिवत् अध्ययन किया। तत्पश्चात् जब जगदुद्धारका अवसर आया तब आप चालीस वर्षकी अवस्थामें मध्यभारतके अनेक स्थानों-में घूम-घूमकर सदुपदेश देने लगे। सं० १७२९ में आप सूरत पधारे, जहाँपर वैष्णव वेदान्तियों तथा अन्य प्रसिद्ध पण्डितोंके साथ वेदान्त और श्रीकृष्णके निजस्वरूपपर आपका बड़ा भारी शास्त्रार्थ हुआ। अन्तमें लोकोत्तर प्रतिभाके कारण विजय आपकी रही और वहाँके सभी विद्वानों-ने आपको भद्रासनपर बैठाकर अभिषेक किया—आरती उतारी। तदनन्तर सर्वसम्मतिसे आपका नाम श्रीमहामति रक्खा गया। उसी समयसे आप निजानन्दीय नादशाखाके प्रवर्तक होकर उसके आचार्य माने जाने लगे। आपके सम्प्रदायमें जो मुख्य आचार्य होता है, वह इसी स्थानपर बैठाया जाता है तथा इस स्थलको इस मतके लोग तीर्थ मानकर इसे 'मंगलपुरी' नामसे पुकारते हैं।

सं० १७४० में सूरतसे चलकर आप पन्ना नगरीमें पहुँचे तथा वहाँकी किलकिलानदीके अमराईघाटपर उतरे। आपके साथ उस समय १७०० के लगभग साधु-साध्वी थे। वहाँ पहुँचते ही किलकिलानदी-तटके निवासियोंने आपसे प्रार्थना की कि 'महाराज! इस नदीका पानी बड़ा विषैला है। इसे पीनेपर मनुष्यकी कौन कहे—पशु-पक्षी भी नहीं बचते हैं।' यह सुनकर संत-मण्डलीके कुछ लोगोंने श्रीप्राणनाथ प्रभुके चरणकमलोंको धोकर उस चरणोदकको नदीमें डाल दिया। फिर सब लोग सहसा कूदकर उस नदीमें जल-क्रीडा करने लगे। श्रीप्राणनाथ प्रभु भी खूब नहलाये गये। तबसे उस नदीका जल सबके पीनेयोग्य हो गया!

इस घटनाकी खबर छत्रसाल-नरेशको लगी। उन्होंने अपने एक सम्मानित व्यक्तिको भेजकर पत्रद्वारा यह प्रार्थना की कि 'मुझको अफगान खाँके तीन हजार सैनिकोंने घेर रक्खा है, इसलिये मेरा तो वहाँ आना अशक्य है, कृपापूर्वक आप ही अपनी थोड़ी-बहुत संत-मण्डलीके साथ मेरे यहाँ पधारिये।' श्रीप्राणनाथ महाराजने छत्रसाल नरेशकी इस प्रार्थनाको स्वीकार कर लिया और आप मऊ पधारे। राजाने आपसे उपदेश-दीक्षा ले ली। इसके बाद आपने राजाको संकटमें पड़ा देखकर अपने हाथोंसे उनके सिरपर पगड़ी बाँधी और हाथमें तलवार देकर कहा—'जाइये, आपकी फतह होगी।' राजाके पास केवल बाईस घुड़सवार थे किन्तु वे उन्हींको साथ लेकर पडवारी नामक स्थानमें पड़ी हुई शत्रु-सेनापर सिंहकी भाँति टूट पड़े। फिर कौन इनका सामना करता है। श्रीप्राणनाथ प्रभुके आशीर्वाद-बलसे

राजाने सबको मार भगाया। इसके अतिरिक्त और भी कई सूबोंपर राजाकी विजय हो गयी तथा अपने सौभाग्यवश उन्होंने श्रीप्राणनाथ प्रभुके अन्य अनेक चमत्कार देखे, जिनका स्थानाभावके कारण यहाँ उल्लेख नहीं हो सकता।

श्रीप्राणनाथ प्रभु जब ७०-७१ वर्षके थे, तब आप एक बार बुन्देलखण्डके बिजावर नगरमें पधारे थे। वहाँ आपने अपने योगबलसे सुन्दर दिव्य किशोर स्वरूप धारणकर, दिव्य किरीट-कुण्डल-अंगदादि आभूषण-वस्त्र पहन, नित्य वृन्दावनकी तरह शारदीय पूर्णिमाकी रात्रिमें रासलीला की और उसके दर्शनद्वारा अपने रसिक भक्तोंका रञ्जन किया था! इसी प्रकार और भी अनेकों दिव्य स्वरूप धारण करके आपने समय-समयपर अपने भक्तोंको दर्शन दिये। आपके भक्तोंमें अनेक सम्प्रदायोंके लोग थे। अतः जो भक्त जिस सम्प्रदायका होता था, उसकी इच्छाके अनुसार आप उसको उसी सम्प्रदायके आचार्यरूपमें दर्शन देते थे। किसी सम्प्रदायसे आपका विरोध नहीं था। यहाँतक कि आपने अनेक बार ईसा, मूसा, दाऊद, मुहम्मद इत्यादि आचार्योंके रूपमें भी अपने तत्तत्सम्प्रदायानुगामी भक्तोंको दर्शन दिये थे।

आपका हृदय नवनीतके समान कोमल था। आपके समयमें जो गरीब आर्यप्रजापर अथवा सती देवियोंपर विधर्मियोंका असह्य आक्रमण होता था, उसको देख-सुनकर, आप अत्यन्त आनन्दमय होते हुए भी दुःखसागरमें डूबे रहते थे। एक बार भगवान् श्रीकृष्णके आवेशने आपके हृदयमें ऐसा जोश पैदा कर दिया कि आप बिना देखे-पढ़े कुरानके तीसों सिपारोंके गुह्यार्थोंको सरल चौपाइयोंमें गाने लगे। उन्हें सुनते ही भक्तोंने लिखना शुरू कर दिया। जब वह ग्रन्थ तैयार हो गया और कुरानके अर्थोंसे उसका मिलान कराया गया तो वह ठीक-ठीक अनुवाद निकला! उस ग्रन्थका नाम 'सनंध' रक्खा गया और उसके प्रतापसे आपके कितने ही भक्तोंने स्थान-स्थानपर विधर्मियोंको पराजित किया। एक समय प्रभुने स्वयं भी अपने १२ भक्तोंको साथ लेकर तत्कालीन यवन-सम्राट् औरंगजेबसे टक्कर ली! आपने कुरानके जो अर्थ किये उसपर औरंगजेब कायल भी हुआ किन्तु जब आपकी भक्तमण्डलीने मुसल्मानोंको यह उपदेश दिया कि 'तुम लोग कुरानके अर्थोंको हमसे समझकर मांसभक्षण तथा गोहत्याका परित्याग कर दो और साधु-ब्राह्मण आदिको कष्ट न दो।' तब औरंगजेबके काजियोंको यह बुरा लगा। उन्होंने श्रीप्राणनाथ महाप्रभुके १२ शिष्योंको कारागारमें डालनेकी आज्ञा दे दी। किन्तु प्रभुने अपने योगबलसे ऐसा नहीं होने दिया तथा विधर्मियोंको तख्तसे उलटवा दिया! आप स्वयं लिखते हैं कि—

'तखत बैठे शाह कहावते, देखो क्यों डारे उलटाय।'

इस प्रकार अनेकों चमत्कार दिखलाकर श्रीप्राणनाथ प्रभुने लोकोद्धारका कार्य किया। सं० १७५० से ५१ तक आप केवल प्रतिदिन एक मुट्ठी चना चबाकर रहे। उस समय आपकी विचित्र दशा थी—रातदिन आप भगवान् श्रीकृष्णको अपने अनन्य प्रेमास्पदके रूपमें याद करके रोया करते थे। सोते तो आप कभी थे ही नहीं। कहा जाता है कि भगवान् भी आपकी चुनी हुई भक्त-मण्डलीके साथ समय-समयपर खेला करते थे। श्रीप्राणनाथ प्रभु पूर्णानन्द श्रीकृष्णचन्द्रके साक्षात्कारजन्य प्रेमावेशमें मग्न रहते हुए जो-जो शब्दोचार करते थे, भक्तजन उन्हें लिपिबद्ध करते जाते थे। उस शब्दसमूहको आज हमलोग 'महावाणी' अथवा 'श्रीमुखवाणी' कहकर पूजते हैं। श्रीकृष्ण-साक्षात्कारके फलस्वरूप श्रीप्राणनाथ प्रभुके हृदयमें जो प्रेम-सागर उमड़ा था, उसको आपने 'प्रेम', 'इश्क', 'शराब', 'तारतमज्ञान', 'भक्ति' इत्यादि नामोंसे पुकारा है। आपने श्रीकृष्णलीलाके व्यावहारिकी, प्रातिभासिकी, वास्तवी—ये तीन भेद मानकर क्रमशः इनकी श्रेष्ठता बतायी है। नित्य-व्रज-लीला और नित्य-रासलीलाको आप क्रमशः व्यावहारिकी तथा प्रातिभासिकी लीला बतलाते थे एवं दिव्य ब्रह्मपुरकी वास्तवी लीलाको ब्रह्मानन्द मानकर उसकी उपासना करते थे। श्रीस्यामाजू ठकुराइन (श्रीरासेश्वरी राधाजी) पर आपका अनन्य प्रेम था।

संवत् १७५१ में परमहंस श्रीप्राणनाथ प्रभु नित्यधाम-को पधार गये। कुछ लोग तो आपको पूर्णानन्द अक्षरातीतका अवतार मानते हैं और कुछ लोग भगवान् श्रीसूर्यनारायणका।

आप पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी प्रमोदाशक्तिके स्वरूप गिने जाते हैं। स्वामी श्रीप्राणनाथजी परमहंसोंकी उच्च स्थितिको प्राप्त थे तथापि आपने वर्णाश्रमधर्मका जीवनभर पालन किया। आपने अपने शिष्योंको श्रीकृष्णकी परा भक्ति करनेको कहा परन्तु वर्णव्यवस्था तोड़नेकी सख्त मनाई की। हाँ, श्रीकृष्ण-के प्रेममें पागल हुए पुरुषोंकी तो बात दूसरी है। आपके सम्प्रदायको 'निजानन्दीय', 'मिहिरराजपंथी', 'श्रीकृष्ण-

प्रणामी' इत्यादि नामोंसे पुकारा जाता है। इसके मुख्य दो ही स्थान हैं—एक पन्नामें, दूसरा सूरतमें। प्रभुके परमधाम पधारनेपर इसकी एक शाखा नवानगरमें स्थापित हुई थी परन्तु आजकल वह भिन्नतापर है। वह प्रायः श्रीप्राणनाथजी-के गुरुको मानती है जिनका नाम श्रीदेवचन्द्रजी है। ये मारवाड़में अमरकोट स्थानमें मत्तू नामक एक पुष्करणा ब्राह्मणके घर श्रीकुँअरबाईके उदरसे संवत् १६३८ आश्विन शुक्ल १४ सोमवारको प्रकट हुए थे। आप हरिव्यासी श्रीस्वामी हरिदाससम्प्रदायके शिष्य थे। आप चालीस वर्षकी उम्रतक श्रीबाँकेबिहारीजीके किरीट तथा मुरलीकी सेवा करते थे। पश्चात् आपको श्रीनित्यवृन्दावनविहारी सर्वेश्वर रासेश्वर प्रभु-ने साक्षात् दर्शन दिये तब इन्होंने निजानन्द नामक सम्प्र-दायकी स्थापना की। इस सम्प्रदायमें स्वलीलाद्वैत माना जाता है। श्रीश्यामाश्यामजी—युगलमूर्तिकी उपासना है।*

चेतावनी

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

शास्त्र और महापुरुष डंकेकी चोट चेतावनी देते आये हैं और दे रहे हैं। इसपर भी हमारे भाइयोंकी आँखें नहीं खुलतीं—यह बड़े आश्चर्यकी बात है। मनुष्यका शरीर सम्पूर्ण शरीरोंसे उत्तम और मुक्तिदायक होनेके कारण अमूल्य माना गया है। चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्यकी योनि, सारी पृथ्वीमें भारतभूमि, और सारे धर्मोंमें वैदिक सनातन-धर्मको सर्वोत्तम बतलाते हैं। मनुष्यसे बढ़कर कोई भी योनि देखनेमें नहीं आती, अध्यात्मविषयकी शिक्षा सारी पृथ्वीपर भारतसे ही गयी है यानी दुनियामें जितने प्रधान-प्रधान धर्म-प्रचारक हुए हैं, उन्होंने अध्यात्मविषयक धार्मिक शिक्षा प्रायः भारतसे ही पायी है। तथा यह वैदिक धर्म अनादि और सनातन है, सारे मत-मतान्तर एवं धर्मोंकी उत्पत्ति इसके बाद और इसके आधारपर ही हुई है। विधर्मी लोग भी इस वैदिक सनातन-धर्मको अनादि न माननेपर भी सबसे पहलेका तो मानते ही हैं। अतएव युक्तिसे भी इन सबकी सबसे श्रेष्ठता सिद्ध होती है। ऐसे उत्तम देश, जाति और धर्मको पाकर भी जो लोग नहीं चेतते हैं, उनको बहुत ही पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

सो परत्र दुख पावहीं, सिर धुनि-धुनि पछिताय।
कालहि कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाय॥

वे लोग मृत्युकाल नजदीक आनेपर सिरको धुन-धुनकर दुःखित-हृदयसे पश्चात्ताप करेंगे और कहेंगे कि 'कलिकालरूप समयके प्रभावके कारण मैं कल्याणके लिये कुछ भी नहीं कर पाया, मेरे प्रारब्धमें ऐसा ही लिखा था; ईश्वरकी ऐसी ही मर्जी थी।' किन्तु यह सब कहना उनकी भूल है क्योंकि यह कलिकाल पापोंका खजाना होनेपर भी आत्मोद्धारके लिये परम सहायक है।

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
(श्रीमद्भा० १२।३।५१)

'हे राजन्! दोषके खजाने कलियुगमें एक ही यह महान् गुण है कि भगवान् श्रीकृष्णके कीर्तनसे ही आसक्तिरहित होकर मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

केवल भगवान्के पवित्र गुणगान करनेसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त हो जाता है। आत्मोद्धारके

* संत-अंकमें प्रकाशित श्रीप्राणनाथजीके चरितमें कुछ भूलें देखकर श्रीनिजानन्द सम्प्रदायके आचार्य स्वामीजी श्रीगोपाल-दासजीकी आज्ञासे ब्रह्मचारीजीने यह लेख लिखकर भेजा है। इसके लिये श्रीआचार्यजी और ब्रह्मचारी जीको धन्यवाद।
—सम्पा[दक]

लिये साधन करनेमें प्रारब्ध भी बाधक नहीं है। इसलिये प्रारब्धको दोष देना व्यर्थ है और ईश्वरकी दयाका तो पार ही नहीं है—

आकर चारि लाख चौरासी। योनिन भ्रमत जीव अविनाशी॥
फिरत सदा मायाके प्रेरे। काल कर्म स्वभाव गुण घेरे॥
कबहुँक करि करुणा नरदेही। देत ईश बिनु हेतु सनेही॥

इसपर भी ईश्वरको दोष लगाना मूर्खता नहीं है तो और क्या है ? आज यदि हम अपने कर्मोंके अनुसार बन्दर होते तो इधर-उधर वृक्षोंपर उछलते फिरते, पक्षी होते तो वनमें, शूकर-कूकर होते तो गाँवोंमें भटकते फिरते। इसके सिवा और क्या कर सकते थे ? कुछ सोच-विचारकर देखिये—परम दयालु ईश्वरकी कितनी भारी दया है, ईश्वरने यह मनुष्यका शरीर देकर हमें बहुत विलक्षण मौका दिया है, ऐसे अवसरको पाकर हमलोगोंको नहीं चूकना चाहिये। पूर्वमें भी ईश्वरने हमलोगोंको ऐसा मौका कई बार दिया था किन्तु हमलोग चेते नहीं, इसपर भी यह पुनः मौका दिया है। ऐसा मौका पाकर हमें सचेत होना चाहिये क्योंकि महान् ऐश्वर्यशाली मान्धाता और युधिष्ठिर-सरीखे धर्मात्मा चक्रवर्ती राजा; दीर्घ आयुवाले हिरण्यकशिपु, रावण और कुम्भकर्ण-जैसे बली और प्रतापी दैत्य; वरुण, कुबेर और यमराज-जैसे लोकपाल और इन्द्र-जैसे देवताओंके भी राजा संसारमें उत्पन्न हो-होकर इस शरीर और ऐश्वर्यको यहीं त्यागकर चले गये; किसीके साथ एक कौड़ी भी नहीं गयी। फिर विचार करना चाहिये कि इन तन, धन, कुटुम्ब और ऐश्वर्य आदिके साथ अल्प आयुवाले हमलोगोंका तो सम्बन्ध ही कितना है।

फिर आपलोग मदिरा पीये हुए उन्मत्तकी भाँति इन सब बातोंको भुलाकर दुःखरूप संसारके अनित्य विषयभोगोंमें एवं उनके साधनरूप धनसंग्रहमें तथा कुटुम्ब और शरीरके पालनमें ही केवल अपने इस अमूल्य मनुष्यजीवनको किसलिये धूलमें मिला रहे हैं ? इन सबसे न तो आपका पूर्वमें सम्बन्ध था और न भविष्यमें रहनेवाला है, फिर इन क्षणस्थायी वस्तुओंकी उन्नतिको ही अपनी उन्नतिकी पराकाष्ठा आप क्यों मानने लगे हैं ? यह जीवन अल्प है और मृत्यु हमारी बाट देख रही है; बिना खबर दिये ही अचानक पहुँचनेवाली है। अतएव जबतक इस देहमें प्राण है, वृद्धावस्था दूर है, आपका इसपर अधिकार है, तबतक ही जिस कामके लिये आये हैं, उस अपने कर्तव्यका शीघ्रातिशीघ्र पालन कर लेना चाहिये। भर्तृहरिने भी कहा है कि—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

'जबतक यह शरीररूपी घर स्वस्थ है, वृद्धावस्था दूर है, इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है और आयुका भी (विशेष) क्षय नहीं हुआ है, तभीतक विद्वान् पुरुषको अपने कल्याणके लिये महान् प्रयत्न कर लेना चाहिये, नहीं तो घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेका प्रयत्न करनेसे क्या होगा ?

अतएव—

काल भजंता आज भज, आज भजंता अब।
पलमें परलय होयगी, बहुरि भजैगा कब॥

यही परम कर्तव्य है, जिसका सम्पादन आजतक कभी नहीं किया गया। यदि इस कर्तव्यका पालन पूर्वमें किया जाता तो आज हमलोगोंकी यह दशा नहीं होती। दुनियामें ऐसी कोई भी योनि नहीं होगी जो हमलोगोंको न मिली हो। चींटीसे लेकर देवराज इन्द्रकी योनितकको हमलोग भोग चुके हैं किन्तु साधन न करनेके कारण हमलोग भटक रहे हैं और जबतक तत्पर होकर कल्याणके लिये साधन

नहीं करेंगे तबतक भटकते ही रहेंगे। हजारों-लाखों ब्रह्मा हो-होकर चले गये, और करोड़ों इन्द्र हो-होकर चले गये, और हमलोगोंके इतने अनन्त जन्म हो चुके कि पृथ्वीके कणोंकी संख्या गिनी जा सकती है, किन्तु जन्मोंकी संख्या नहीं गिनी जा सकती। और भी चाहे लाखों, करोड़ों कल्प बीत जायँ, बिना साधनके परमात्माकी प्राप्ति होती नहीं, और बिना परमात्माकी प्राप्तिके भटकना मिट नहीं सकता। इसलिये उस सर्वव्यापी परम दयालु परमात्माके नाम और रूपका सदा-सर्वदा स्मरण और उसीकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। इसीसे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र और सुलभ है। (गीता ८।१४; १२।६-७) इन साधनोंके लिये उन महापुरुषोंकी शरणमें जाना चाहिये, जिन पुरुषोंको सच्चे सुखकी प्राप्ति हो चुकी है। उन पुरुषोंके संग, सेवा और दयासे ही भगवान्‌के गुण और प्रभावको जानकर भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्य प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति होती है। और जिन पुरुषोंपर प्रभुकी दया होती है, उन्हींपर महापुरुषोंकी दया होती है, क्योंकि—

जापर कृपा रामकी होई। तापर कृपा करे सब कोई॥

प्रभुकी दयासे ही महापुरुषोंका संग और सेवा करनेका अवसर मिलता है। यद्यपि प्रभुकी दया सबके ऊपर ही अपार है, किन्तु हमलोग इस बातको अज्ञानके कारण समझते नहीं हैं, विषय-सुखमें भूले हुए हैं। इसलिये उस दयासे पूरा लाभ नहीं उठा सकते। जैसे किसीके घरमें पारस पड़ा है, पर वह उसके गुण, प्रभाव और रहस्यको न जाननेके कारण दरिद्रताके दुःखको भोगता है, उसी प्रकार हमलोग भगवान् और भगवान्‌की दयाके रहस्य, प्रभाव, तत्त्व और गुणोंको न जाननेके कारण दुखी हो रहे हैं।

अतएव इन सबको जाननेके लिये महापुरुषोंका संग, सेवा तथा प्रभुके नाम, रूप, गुण और चरित्रोंका ग्रन्थोंमें अध्ययन करके उनका कीर्तन और मनन करना चाहिये। क्योंकि यह नियम है कि कोई भी पदार्थ हो, उसके गुण और प्रभाव जाननेसे उसमें श्रद्धा-प्रेम, और अवगुण जाननेसे घृणा होती है। और यह बात प्रसिद्ध है कि परमेश्वरके समान संसारमें न कोई गुणी है और न कोई प्रभावशाली। जिसके सङ्कल्प करनेसे तथा नेत्रोंके खोलने और मूँदनेसे क्षणमें संसारकी उत्पत्ति और विनाश हो जाता है, जिसके प्रभावसे क्षणमें मच्छरके तुल्य जीव भी इन्द्रके समान और इन्द्रके तुल्य जीव मच्छरके समान हो जाते हैं, इतना ही क्यों, वह असम्भवको सम्भव और सम्भवको भी असम्भव कर सकता है; ऐसी कोई भी बात नहीं है जो उसके प्रभावसे न हो सके। ऐसा प्रभावशाली होनेपर भी वह भजनेवालेकी उपेक्षा नहीं करता, बल्कि भजनेवालेको स्वयं भी वैसे ही भजता है, इस रहस्यको किञ्चित् भी जाननेवाला पुरुष एक क्षणके लिये भी ऐसे प्रभुका वियोग कैसे सह सकता है?

जो परमेश्वर महापामर दीन दुखी अनाथको याचना करनेपर उसके दुर्गुण और दुराचारोंकी ओर खयाल न करके बच्चेको माताकी भाँति गले लगा लेता है, ऐसे उस परम दयालु सच्चे हितैषी परम-पुरुषको इस दयाके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष पवित्र होनेके लिये आर्तनाद करनेमें क्या विलम्ब कर सकता है?

उस परमात्मामें धैर्य, क्षमा, दया, त्याग, शान्ति, प्रेम, ज्ञान, समता, निर्भयता, वत्सलता, सरलता, कोमलता, मधुरता, सुहृदता आदि गुणोंका पार नहीं है, और परमात्माके ये सब गुण उसको भजनेवालेमें स्वाभाविक ही आ जाते हैं—इस बातके मर्मको जाननेवाला पुरुष उसको छोड़कर एक क्षण भी दूसरेको नहीं भज सकता।

जो प्रेमका तत्त्व जानता है—साक्षात् प्रेमस्वरूप है जो महान् होकर भी अपने प्रेमी भक्त और सखाओंके साथ उनका अनुगमन करता है, ऐसे उस निरभिमानी, प्रेमी, दयालु भगवान्के तत्त्वको जाननेवाला पुरुष उसकी किसी भी आज्ञाका उल्लङ्घन कैसे कर सकता है?

इन सब भगवान्के गुण और प्रभावको जान लेनेपर तो बात ही क्या है, किन्तु ऐसे गुण और प्रभावशाली प्रभुके होनेमें विश्वास (श्रद्धा) होनेपर भी मनुष्यके द्वारा पापाचार तो हो ही नहीं सकता, बल्कि उसके प्रभाव और गुणोंको स्मरण कर-कर मनुष्यमें स्वाभाविक ही निर्भयता, प्रसन्नता और शान्ति आ जाती है। और पद-पदपर उसे आश्रय मिलता रहता है, जिससे उसके उत्साह और साधनकी वृद्धि होकर परमेश्वरकी प्राप्ति हो जाती है।

यदि ऐसा विश्वास न हो सके तो भी उसको अपने चित्तसे एक क्षण भुलाना तो नहीं चाहिये। नहीं तो भारी विपत्तिका सामना करना पड़ेगा। क्योंकि मनुष्य जिस-जिसका चिन्तन करता हुआ जाता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है, इस प्रकार शास्त्र और महात्माओंने कहा है और यह युक्तिसंगत भी है। सोते समय मनुष्य जिस-जिस वस्तुका चिन्तन करता हुआ सोता है, स्वप्नमें भी प्रायः वही वस्तु उसे प्रत्यक्ष-सी दिखलायी देती है, इसी प्रकार मरणकालमें भी जिस-जिसका चिन्तन करता हुआ मनुष्य मरता है, आगे जाकर वह उसीको प्राप्त होता है अर्थात् जो भगवान्का चिन्तन करता हुआ जाता है, वह भगवान्को प्राप्त होता है और जो संसारको चिन्तन करता हुआ जाता है, वह संसारको प्राप्त होता है। यदि कहें कि अन्तकालमें ही भगवान्का चिन्तन कर लेंगे—तो ऐसा मानना भूल है। अन्तकालमें इन्द्रियाँ और मन कमजोर और व्याकुल हो जाते हैं, उस समय प्रायः पूर्वका अभ्यास ही काम आता है। इसलिये मनुष्यजन्मको पाकर यह जोखिम तो अपने सिरसे उतार ही देनी चाहिये, यानी और कुछ साधन न बन पड़े तो गुण और प्रभावके सहित नित्य-निरन्तर परमेश्वरका स्मरण तो करना ही चाहिये। इसमें न तो कुछ खर्च लगता है और न कुछ परिश्रम ही है, बल्कि यह साधन प्रत्यक्ष आनन्द और शान्तिदायक है तथा करनेमें भी बहुत सुगम है। केवल विश्वास (श्रद्धा) की ही आवश्यकता है। फिर तो अपने-आप सहज हो सब काम हो सकता है। परमात्मामें विश्वास होनेके लिये परमात्माके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, प्रेम और चरित्रकी बात महापुरुषोंसे श्रवण करके उसका मनन करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे उन महापुरुष और परमात्माकी दयासे परमेश्वरमें विश्वास और परम प्रेम होकर उसकी प्राप्ति सहजमें हो हो सकती है। परन्तु शोककी बात है कि ईश्वर और परलोकपर विश्वास न रहनेके कारण हमलोग इस ओर खयाल न करके अपने अमूल्य जीवनको अपने आत्मोद्धाररूप ऊँचे-से-ऊँचे काममें बिताना तो दूर रहा, नाशवान् क्षणभङ्गुर सांसारिक विषय-भोगोंके भोगनेमें ही समाप्त कर देते हैं। सांसारिक पदार्थोंमें जो क्षणिक सुखकी प्रतीति होती है, वास्तवमें वह सुख नहीं है, धोखा है। यह बात विचार करनेसे समझमें आ सकती है। ईश्वरने हमलोगोंको बुद्धि और ज्ञान विवेकपूर्वक समय बितानेके लिये ही दिया है, अतएव जो भाई अपने जीवनको बिना विचारे बिताता है, वह अपनी अज्ञताका परिचय देता है। हर एक मनुष्यको यह विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ? यह संसार क्या है? इसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? मैं क्या कर रहा हूँ? मुझे क्या करना चाहिये?

संसारके सारे प्राणी सुख चाहते हैं, वह सुख भी सदा-सर्वदा अपार चाहते हैं और दुःखको कोई

किञ्चित् मात्र भी कभी नहीं चाहता। किन्तु ऐसा होता नहीं, बल्कि उसकी इच्छाके विपरीत ही होता है। क्योंकि यह अपने समयको मूर्खताके कारण जैसा बिताना चाहिये वैसा नहीं बिताता।

संसारमें जो बड़े-बड़े विद्वान् और बुद्धिमान् समझे जाते हैं, वे भी भौतिक यानी सांसारिक सुखको ही सुख मानकर उसकी प्राप्तिके लिये मोहके वशीभूत होकर टूट पड़ते हैं और उसकी प्राप्तिके लिये चेष्टा करना ही उन्नति मानते हैं। बहुत-से लोग सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिके साधनरूप रुपयोंको ही सर्वोपरि मानकर धनसञ्चय करना ही अपनी उन्नति मानते हैं और कितने ही लोकमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये अपनी ख्याति करना ही उन्नति मानते हैं। किन्तु यह सब मूर्खता है क्योंकि ये सारी बातें अनित्य होनेके कारण इनमें भ्रमसे प्रतीत होनेवाला क्षणिक सुख भी अनित्य ही है। अनित्य होनेके कारण ही शास्त्रकारोंने इसे असत्य बतलाया है। शास्त्र और महापुरुषोंका यह सिद्धान्त है एवं युक्ति-संगत भी है। कोई भी पदार्थ हो जो सत् होगा, उसका किसी भी प्रकार कभी विनाश नहीं होगा। उसपर कितनी ही चोटें लगें, वह सदा-सर्वदा अटल ही रहेगा। जो असत् पदार्थ है, उसके लिये आप कितना ही प्रयत्न करें, वह कभी रहनेका नहीं। इन सब बातोंको समझकर क्षणभङ्गुर—नाशवान् सुखसे अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको हटाना चाहिये और वास्तवमें जो सच्चा सुख है उसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। उसकी प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर हो जाना ही असली उन्नति है।

अब हमको यह विचार करना चाहिये कि सच्चा सुख क्या है और किसमें है? तथा मिथ्या सुख क्या है और किसमें है? सर्वशक्तिमान् विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा ही नित्य वस्तु है, अतएव उस परमात्माके सम्बन्धसे होनेवाला सुख ही सत्य और नित्य सुख है। जो सांसारिक पदार्थ हैं, वे सब क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण उनमें प्रतीत होनेवाला सुख क्षणिक और अनित्य है। अब यह विचार करें कि सांसारिक पदार्थ और उनमें प्रतीत होनेवाला सुख क्षणिक और अनित्य कैसे है? देखिये, जैसे प्रातःकाल गायका दूध दुहकर तुरन्त पान किया जाता है तो उसका स्वाद, गुण, रूप दूसरा ही होता है। और सायंकालतक पड़े रहनेपर कुछ दूसरा ही हो जाता है यानी प्रातःकाल-जैसा स्वाद और गुण उसमें नहीं रहता तथा रूप भी कुछ गाढ़ा हो जाता है। दूसरे और तीसरे दिन तो स्वाद, गुण और रूपको तो बात ही क्या है, उसका नाम भी बदल जाता है अर्थात् कुछ क्रिया न करनेपर भी दूधका दही हो जाता है तथा मीठेका खट्टा, पित्त और वायुनाशकको जगह पित्त और वायुवर्धक, एवं पतलेका अत्यन्त गाढ़ा हो जाता है। और दस दिनके बाद तो पड़ा-पड़ा स्वाभाविक ही विषके तुल्य स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त हानिकर हो जाता है। विचार करके देखिये, कुछ क्रिया न करनेपर भी अमृतके तुल्य दूध-जैसे पदार्थमें क्षणपरिणामी होनेके कारण पहिलेवाले स्वाद, गुण, रूप और नामका अत्यन्त अभाव हो जाता है। यदि वह नित्य होता तो उसका परिवर्तन और विनाश नहीं होता। इसी प्रकार अन्य सब पदार्थोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। अतएव इन सांसारिक पदार्थोंमें प्रतीत होनेवाला सुख वास्तवमें सुख नहीं है। यदि प्रतीत होनेवाले क्षणिक सुखको सुख माना जाय तो उससे बढ़कर उनमें दुःख भी है, इसलिये वे त्याज्य हैं। एक पुरुष रमणीके साथ रमण करता है, उस समय उसको क्षणिक सुख-सा प्रतीत होता है, पर आगे चलकर उससे रोगोंकी वृद्धि, तथा बल, बुद्धि, तेज और आयुका क्षय होता है एवं वह महान्

दुःखी होकर शीघ्र ही कालका ग्रास बन जाता है। उपर्युक्त कार्य धर्मसे विरुद्ध करनेपर तो इस लोकमें अपकीर्ति और मरनेपर नरकको भी प्राप्ति होती है। अब विचार करके देखिये कि क्षणिक सुखके बदलेमें कितने समयतक कितना दुःख भोगना पड़ता है। इसी प्रकार अन्य सब पदार्थोंके भोगमें भी समझना चाहिये क्योंकि विषयोंके भोगमात्रसे शरीर और इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं और अन्तःकरण दूषित, दुर्बल और चञ्चल हो जाता है; पूर्वकृत पुण्योंका क्षय और पापोंकी वृद्धि होती है। इतना ही नहीं, धीर और वीर पुरुष भी विलासी बन जाते हैं तथा ईश्वरप्राप्तिके मार्गपर आरूढ़ नहीं हो सकते। कोई आरूढ़ होनेका प्रयत्न करते हैं तो भी उनको सफलता शीघ्र नहीं होती।

इसलिये इन पदार्थोंके भोगनेके उद्देश्यसे अर्थ (धन) को इकट्ठा करना भी भूल ही है—क्योंकि प्रथम तो इस अर्थ (धन) के उपार्जन करनेमें बहुत परिश्रम होता है। इतना ही नहीं, घोर नरकदायक पाप यानी अनेकों अनर्थ करने पड़ते हैं। फिर इसकी रक्षा करनेमें बहुत कठिनाई पड़ती है। कहीं-कहीं तो इसकी रक्षा करनेमें प्राणोंपर नौबत आ जाती है। इसके खर्च और दान करनेमें भी कम दुःख नहीं होता। लोग कहते हैं कि देना और मरना समान है। इसके नाश और वियोगमें बड़ा दुःख होता है। जब मनुष्य इसको छोड़कर परलोकमें जाता है, उस समय तो दुःखका पार ही नहीं है। अतएव क्षणिक सुखकी प्राप्तिके लिये महान् दुःखका सामना करना मूर्खता नहीं तो और क्या है? फिर उस अर्थ (धन)के द्वारा प्राप्त होनेवाला विषयसुख भी इसकी इच्छानुसार इसको नहीं मिल सकता। संसारमें बड़े-बड़े जो व्यावहारिक दृष्टिसे विद्वान् और बुद्धिमान् समझे जाते थे, वे सब इस धनको छोड़ सिर धुन-धुनकर पछताते हुए चले गये। बड़े-बड़े प्रतापी, प्रभावशाली, बलवान् पुरुष भी इसे साथ नहीं ले जा सके, फिर हमलोगोंकी तो बात ही क्या है। संसारमें यह भी देखा जाता है कि धन इकट्ठा कोई करता है और उसका उपभोग प्रायः दूसरा ही करता है जो कि कहीं-कहीं तो उसके उद्देश्यसे बिल्कुल ही विपरीत होता है। जैसे शहदकी मक्खी शहद इकट्ठा करती है पर उसका उपभोग प्रायः दूसरे लोग ही करते हैं। यह उसकी मूर्खताका परिचय है। मक्खियाँ तो साधारण कीट हैं किन्तु मनुष्य होकर भी जो इस विषयपर विचार नहीं करता, वह उन कीटोंसे भी बढ़कर है।

एक भाई रोज हजार रुपये कमाता है और आज हजार रुपयोंकी थैली उसके घरपर आ गयी, तो कलके लिये दो हजारकी चेष्टा करता है, पर थोड़ी देरके लिये समझ लीजिये कि कल उसकी मृत्यु होनेवाली है और यह बात स्पष्ट है कि मृत्यु होनेके बाद उसका इस धनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता और मृत्यु विना खबर दिये ही अचानक आती है और सम्पूर्ण धनको खर्च कर देने तथा लाख प्रयत्न करनेपर भी किसी भी प्रकार मृत्युसे वह छूट नहीं सकता। उसकी मृत्यु अवश्यमेव है। ऐसी हालतमें जिन पढ़े-लिखे तथा प्रतिष्ठित टाइटल पाये हुए मनुष्योंका धन-सञ्चय करना ही ध्येय है उनकी शहद इकट्ठा करनेवाली मक्खियोंसे भी बढ़कर अज्ञता कही जाय तो इसमें क्या अत्युक्ति है?

जो नाम-ख्यातिके लिये तन, मन, धनको लगाते हैं, वे भी बुद्धिमान् नहीं हैं, क्योंकि नाम-ख्याति सच्चे सुखमें बाधक है और मरनेके बाद भी उस नाम-ख्यातिसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतएव उन धनी-मानी विषयासक्त भाइयोंसे सविनय निवेदन है

कि आपका एक परमेश्वर और उसकी आज्ञापालन-रूप धर्मके सिवा इस लोक और परलोकमें कहीं भी कोई साथी तथा सहायक नहीं है। इसलिये यदि नाम-ख्यातिकी ही इच्छा हो तो भी भगवत्प्राप्तिकी ही चेष्टा करनी चाहिये। क्योंकि जब उस ब्रह्मको अभेदरूपसे प्राप्त हो जावेंगे यानी जब आप परमात्मा ही बन जावेंगे, तब वेद और शास्त्रोंमें जो विज्ञान-आनन्द-घन ब्रह्मकी महिमा गायी है और भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी जो ख्याति है, वह सब तुम्हारी ही हो जायगी। इतना ही नहीं, दुनियामें जितनी भी ख्याति हो रही है और होगी, वह सब तुम्हारी ही है। क्योंकि जो पुरुष ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह सबका आत्मा ही हो जाता है। इसलिये सबकी ख्याति ही उसकी ख्याति है। और सबकी ख्याति भी उसके एक अंशमात्रमें ही स्थित है। गीतामें श्रीभगवान्ने कहा भी है—

> यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
> तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥
> (१०। ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्ति-युक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान।'

अब विचार करना चाहिये कि फिर तुच्छ लौकिक ख्यातिकी इच्छा करना और उसके लिये अपना तन, मन, धन नष्ट करना कितनी मूर्खता है। वास्तवमें भगवान्की प्राप्ति अपनी ख्यातिके लिये नहीं करनी है, वह तो हमारा परम ध्येय और आश्रय होना चाहिये क्योंकि उस पदको प्राप्त होनेपर और कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता। इसीको मुक्ति, परमपद और सच्चे सुखकी प्राप्ति कहते हैं। जुगनूका जैसे सूर्यके साथ तथा बूँदका जैसे समुद्रके साथ मुकाबला सम्भव नहीं, उसी प्रकार सारी दुनियाका सम्पूर्ण सुख मिलाकर भी उस विज्ञान-आनन्दघनकी प्राप्तिरूप सच्चे सुखके साथ उसका मुकाबला नहीं किया जा सकता। भगवान् गीतामें कहते हैं—

> यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
> तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥
> (२। ४६)

'सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त होनेपर छोटे जलाशयमें (मनुष्यका) जितना प्रयोजन रहता है, अच्छी प्रकार ब्रह्मको जाननेवाले ब्राह्मणका (भी) सब वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रहता है। अर्थात् जैसे बड़े जलाशयके प्राप्त हो जानेपर जलके लिये छोटे जलाशयोंकी आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होनेपर आनन्दके लिये वेदोंकी आवश्यकता नहीं रहती।'

जैसे स्वप्नमें प्राप्त हुए त्रिलोकीके राज्य-सुखका थोड़े-से भी जाग्रत्के सुखके साथ मुकाबला नहीं किया जा सकता तथा यदि उस स्वप्नके राज्यको कोई बेचना चाहे तो एक पैसा भी उसका मूल्य नहीं मिलता क्योंकि जागनेके बाद उस स्वप्नके राज्यका कोई नाम-निशान ही नहीं है, वैसे ही परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद इस संसार और सांसारिक सुखका नाम-निशान भी नहीं रहता। अतएव ऐसे अनन्त सुखको छोड़कर जो क्षणभङ्गुर, नाशवान् मिथ्या सुखके लिये चेष्टा करता है, उससे बढ़कर कौन मूर्ख है ?

दूसरा जो प्रेममें मुग्ध होकर भेदरूपसे भगवान्की उपासना करता है उसकी तो और भी अद्भुत लीला है। वह स्वामीकी प्रसन्नतामें प्रसन्न और उनके सुखमें सुखी रहता है। स्वामीमें अनन्य प्रेम, नित्य संयोग और उनकी प्रसन्नताके लिये ही उस भक्तकी सारी चेष्टाएँ होती हैं। अपने प्रेमास्पद सगु[illegible]

ब्रह्मपर तन, मन, धनको और अपने-आपको न्यौछावर करके वह प्रेम और आनन्दमें मुग्ध हो जाता है। केवल एकमात्र भगवान् ही उसके परम आश्रय, जीवन, प्राण, धन और आत्मा हैं। इसलिये वह भक्त उनके वियोगको एक क्षण भी नहीं सह सकता। उस प्यारे प्रेमीके नाम, रूप, गुण, प्रेम, प्रभाव, रहस्य और चरित्रोंका श्रवण, मनन और कीर्तन करता हुआ नित्य-निरन्तर उसमें रमण करता है।

इस आनन्दमें वह इतना मुग्ध हो जाता है कि ऊपरमें अभेदरूपसे बतलायी हुई परमगति यानी मुक्तिरूप सुखकी भी वह परवा नहीं करता। मछली जैसे जलके वियोगको नहीं सह सकती वैसे ही भगवान्का वियोग उसको अत्यन्त असह्य हो जाता है। इतना ही नहीं, भगवान्के मिलनेपर भगवान् जब उसको हृदयसे लगाते हैं, तब वस्त्रादिका व्यवधान भी उसको विघ्नरूप-सा प्रतीत होने लगता है। वह अव्यवधानरूपसे नित्य-निरन्तर मिलना ही पसंद करता है और एक क्षण भी भगवान्से अलग होना नहीं चाहता। इस प्रकार भगवत्प्राप्तिरूप आनन्दमें जो मग्न है, उसके गुणोंका वर्णन वाणीद्वारा शेष, महेश, गणेश आदि भी नहीं कर सकते, फिर अन्यकी तो बात ही क्या है? ऋषि, मुनि, महात्मा और सारे वेद जिन परमेश्वरकी महिमाका गान कर रहे हैं, वे परमेश्वर स्वयं उस भक्तकी महिमा गाते हैं और उसके प्रेममें बिक जाते हैं। तथा उस भक्तके भावके अनुसार भावित हुए उसकी इच्छानुसार प्रत्यक्ष प्रकट होकर उसके साथ रसमय क्रीड़ा करने लग जाते हैं यानी जिस प्रकारसे भक्तको प्रसन्नता हो, वैसी ही लीला करने लगते हैं।

यदि कहा जाय कि भेद और अभेदरूपसे होनेवाली परमात्माकी प्राप्तिमें क्या अन्तर है तो इसका उत्तर यह है कि अभेदरूपसे परमात्माकी उपासना करनेवाला पुरुष तो स्वयं ही सच्चा सुख यानी विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा ही हो जाता है, और भेदरूपसे उपासना करनेवाला भक्त भिन्नरूपसे उस रसमय परमात्माके स्वरूपका दिव्य रस पान करता है यानी उस अमृतमय सगुण-स्वरूप परमात्माके मिलनके आनन्दका अनुभव करता है।

यहाँतक तो वाणीकी पहुँच है। इसके बाद दोनों प्रकारके भक्तोंकी एक ही फलस्वरूपा अनिर्वचनीय स्थिति होती है, जिसे वेद-शास्त्र, शिव-सनकादि, शारदा एवं साधु-महात्मा तथा इस स्थितिको प्राप्त होनेवाले भी कोई पुरुष किसी प्रकार नहीं बतला सकते। जो कुछ भी बतलाया जाता है, उस सबसे यह अत्यन्त परेकी बात है। क्योंकि यहाँ वाणीकी तो बात ही क्या है, मन और बुद्धिकी भी पहुँच नहीं है।

इसलिये दुःख और विघ्नरूप समझते हुए नाशवान्, क्षणभङ्गुर, तुच्छ भौतिक सुखको लात मारकर परमात्माकी प्राप्तिरूप सच्चे सुखके लिये ही कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार चेष्टा करनेवाले पुरुषको परमेश्वरकी दयासे उसकी प्राप्ति होनी सहज है।
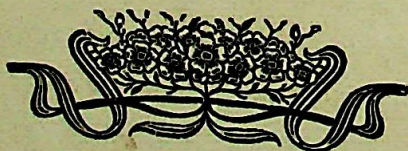
जीवन्मुक्त संत मथुरादासजी

(लेखक—श्रीमहानन्दजी)

संत मथुरादासजी हरद्वारकी समीपतामें विशेषकर रहा करते थे। कनखल, चण्डीपर्वत या गंगाका तट—प्रायः इसकी समीपतामें उनका रहना, उन्हींकी बातचीतसे पता चलता था। स्वामी दयानन्दजी सरस्वतीने जब सबसे पूर्व सं० १९२३ विक्रमी कुम्भके मेलेपर अपना प्रचारकार्य किया था, और उसके बाद जब-जब हरद्वार आये, तब-तब संतजीका और स्वामीजीका समागम हुआ, यह संतजी कहते थे। स्वामी दयानन्दजीके सम्बन्धमें संतजीने 'बड़ा बहादुर था, बड़ा वीर था, लंगोटका पक्का था' ये शब्द कई बार कहे, पर धार्मिक विचारोंके सम्बन्धमें मेरे सामने कोई चर्चा न आयी। इसीसे विज्ञ महानुभाव इसका अनुमान भली प्रकार कर सकेंगे कि वे स्वामी दयानन्दजीके समकालीन थे।

मुझे उनके दर्शनोंका सौभाग्य सबसे प्रथम सन् १९२७ ई० के लगभग हुआ था। उनका रंग साँवला था, सिरपरके कुछ बाल उड़ गये थे, कुछ रह गये थे, मूँछोंके साथ दाढ़ी छातीतक थी, धूसर वर्णके कुछ श्वेत और अधिकतर काले बालोंका सम्मिश्रण था। उस समय उनकी आयु ११६ वर्षकी थी। पैदल ही बिना प्रयासके चला-फिरा करते थे। आँखोंमें और चेहरेमें एक विशेष माधुर्य था, रोबका अभाव था, शान्तगम्भीर-स्वस्थता और शान्तचित्तताका अद्भुत सम्मिश्रण था। बहुत प्रश्न पूछते रहनेपर भी जिसका चाहते थे सूत्ररूपसे दृष्टान्तद्वारा उत्तर दिया करते और फिर मौन हो जाते थे। उनके दृष्टान्त इतने स्वाभाविक और अर्थगम्भीर होते थे कि जैसे वेदमन्त्र। भाषा उनकी पंजाबी थी, पंजाबीमें ही बातचीत करते थे। कई वर्षोंतक उनके सत्संगमें, जब कभी आनेसे, जो कुछ पता चला है, वही 'कल्याण' के पाठकोंकी सेवामें उपस्थित कर रहा हूँ।

आपका जन्म लगभग सन् १८११ ईस्वीमें पंजाबमें जिला हुशियारपुरमें हुआ था, जब विवाह होने लगा तो घरसे निकलकर चल दिये। जो-जो वस्त्र फट गये, फिर दुबारा नहीं बनवाये, अन्तमें सिर्फ एक कौपीन ही उनकी वेषभूषारूपमें विद्यमान रही। जब वे बस्तीमें आते तो बाँध लेते थे, बस्तीके बाहर निर्जन वनमें होनेपर उसे भी उतारकर डाल देते थे। बस्तीमें नग्न रहना मर्यादाके प्रतिकूल समझते थे।

आश्रममर्यादापालन

गुरुकुल-विश्वविद्यालय काँगड़ीके शिक्षापटलका अधिवेशन वर्षाऋतु होनेके कारण मायापुर-वाटिकामें रक्खा गया था, जिससे बाहरके आगन्तुक सदस्योंको गंगाकी उत्तुंग और वेगवाहिनी धाराको आरपार करनेमें अधिक समय न लगे। शिक्षापटलके मन्त्री (प्रस्तोता या रजिस्ट्रार) की हैसियतसे मैं काँगड़ीसे मायापुर-वाटिकाके लिये चला जा रहा था, कनखलमें संतजीके दर्शन किये, और उनसे अनुरोध किया कि आप मायापुर-वाटिका पधारिये, चूँकि वे स्वयं ही मायापुर-वाटिकाकी तरफ जा रहे थे, उन्होंने अनुरोध स्वीकार कर लिया। वाटिकामें पहुँचकर मुझे आज्ञा दी कि 'पानी पिला'। आज्ञाके उत्तरमें मैंने दूधका एक गिलास उपस्थित कर दिया। दूध देखते ही अप्रसन्न हुए और चलनेके लिये तैयार हो गये। मैंने अपराधके लिये क्षमा माँगते हुए प्रार्थना की कि आप किस कारण इतने अप्रसन्न हुए कि चलनेका इरादा कर लिया। इसपर उन्होंने कहा कि—'दा

और यतिका क्या सम्बन्ध ? साधुका और स्त्रीका क्या सम्बन्ध ? फिर पानी न लाकर दूध क्यों लाये ?' मैंने तुरंत ही भुने चने और जल उपस्थित कर दिया, तब उन्होंने चने खाकर पानी पिया और फिर प्रसन्न होकर चल दिये !

आप जब बस्तीके समीप होते थे तब आपका भोजनसम्बन्धी नियम यह था कि ग्यारह-बारह बजेके बीचमें मध्याह्नके समय भिक्षाके लिये चार घरोंमें क्रमशः 'नारायण हरिः' कहकर बारह मिनट प्रतीक्षा करते थे और यदि उस समयके अंदर किसीने भिक्षा दी तो अपने हाथमें ही रोटी लेकर खाकर फिर अगले घर उसी प्रकार भिक्षा माँगी-खायी, और आगे चल दिये। खा करके ओकसे ही जल पीते थे, और हाथ-मुख धो लिये तो धो लिये अन्यथा बाँहोंपर मुँह फेर लिया और हाथ नितम्बपर फेर लिये। एक दिन इसी अवस्थामें उनके दर्शन हुए कि टिक्कड़ खानेके बाद अपने हाथ नितम्बपर फेरकर पोंछ लिये। मैंने पूछा संतजी ! आप कभी स्नान भी करते हैं या नहीं। संतजीने कहा 'स्नानकी जरूरत क्या है ?' मैंने कहा कि 'शरीरका मल दूर होकर दुर्गन्ध नहीं रहती।' इसपर उन्होंने बगले और गुदमार्गको सूँघकर परीक्षा करनेको कहा। मैंने गुदद्वार तो नहीं पर बगलोंको अच्छी प्रकार सूँघा, जरा भी बदबू न थी, यह अवसर गर्मीकी ऋतुका था, यह एक प्रसंगोपात्त घटनाका उल्लेख हो गया है। अपना भोजनसम्बन्धी नियम-पालन इस प्रकार रखते थे कि यदि कभी कोई चुपड़ी रोटीकी भिक्षा लाता तो इनकार कर देते थे और फिर उसके घर भिक्षा लेने कभी न जाते थे।

खानपानमें ११६ वर्षके होनेपर भी दूध-घीका पूर्ण परित्याग किये हुए थे, और इस परित्यागरूप नियममें कभी अतिक्रमण नहीं होने पाया। रूखे-सूखे टिक्कड़ थे और वे भी अधिक-से-अधिक चार।

भिक्षासे सम्बद्ध एक बातका और उल्लेख कर देता हूँ। मैंने पूछा संतजी ! कभी आपने मांस खाया या नहीं—चूँकि आपको जो भिक्षामें आ गया सो पा लिया—आपको क्या पता कि क्या परोसा है, शाक है या मांस ?

इसपर उन्होंने सिन्धमें और सम्भवतः शिकारपुरमें घटी एक घटना सुनायी, जिसका सारांश यह है कि— वहाँ एक माईने टिक्कड़पर भाजीरूपमें मांस परोस दिया, मैं खाने ही लगा था कि इतनेमें उसका मालिक जो दूकानसे घरको जा रहा था मिला, उसने रोटी मेरे हाथसे ले ली और घर जाकर अपनी औरतको खूब फटकारा, तब दूसरी भिक्षा लाया और कहा कि यह औरत बड़ी हरामजादी है, इसने आप-को भिक्षामें मांसकी भाजी दे दी थी। इसपर मैंने पूछा कि आपने उसे क्या समझा था ? तो उत्तर दिया कि मैंने तो बैंगनका साग समझा था। तात्पर्य यह है कि भगवत्-कृपासे एक ही ऐसा मौका आया और वह उपर्युक्त प्रकारसे टल गया।

शारीरिक तपस्या

जैसा ऊपर लिखा है सर्दी-गर्मी-वर्षा प्रत्येक ऋतुमें वे नग्न ही रहते थे, केवल कौपीनका साथ रहा करता था। एक बार वे क्वेटा पहुँच गये। वहाँका वर्णन करते थे कि—वहाँ आर्योंका जोर था, मैं रातको क्वेटा पहुँचा तो हवालातमें बंद कर दिया गया। अगले दिन सब जगह खबर हुई कि एक नंगा फकीर जो कि अवारागर्द है और रातको आया है हवालातमें बंद है। इससे कई आदमी वहाँ आये, उनमेंसे एक आदमीने मुझे पहचान लिया और कहा कि यह तो हरद्वारका संत मथुरादास है। इतना पता लगते ही मैं छोड़ दिया गया। और मेरे लिये एक खास आर्डर जारी किया कि यह आदमी चाहे जिस

जगह और चाहे जिस समय (दिनरातके बिना लिहाजके) ज़हाँ जाना चाहे जा सकता है। इसके लिये किसी किस्मकी रोक-टोक न होगी। यह आर्डर सम्भवतः सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस क्वेटा (ला० गणेशदासजी आर्य) के द्वारा दिया गया। फिर तो मेरे सत्कारके लिये आर्योंका मुहल्ला लालायित रहता, देवियाँ थाल भर-भरकर अपने दरवाजोंपर इंतजार करतीं, और मेरे वहाँ पहुँचनेपर आग्रह करतीं कि संतजी अंगूर खायें, यह खायें, वह खायें, सारा भोजन स्वीकार करें। मैं एक घरसे एक मुट्ठी भोजन स्वीकार करता। एक दिन बातचीतमें किसीने कहा कि क्वेटेसे कुछ दूर एक नाला है, उसमें एक घास पैदा होती है, जिसमेंसे दूध-सा सफेद रस निकलता है। यह सुननेपर मैं उधर गया तो वहाँ घास तोड़-तोड़कर देखी तो एकमेंसे दूध निकला, उसे पा लिया। भिक्षाके लिये बस्तीमें नहीं गया। इधर लोग ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वहाँ आ पहुँचे और कहा कि संतजी, यह हरद्वार नहीं है, यहाँ रातको प्रायः दो फीट बर्फ पड़ता है, कभी-कभी तो तीन और चार फीटतक भी पड़ जाता है। आप यहाँ नालेपर हरगिज़ न ठहरें, नहीं तो न्यूमोनिया हो जायगा, हमारे घरोंमें चलें वहाँ ओढ़नेको रजाई, कम्बल मिलेंगे और हर समय अंगीठियाँ दहकती रहेंगी। इसपर संतजीने कहा कि मैं तो यहाँ ही रहूँगा—मैं बस्तीमें नहीं जाऊँगा, वे सारो सर्दी लगभग दो-तीन मास वहाँ ही रहे। नालेके पास पड़े रहनेके कारण ३-४ फीट बर्फ शरीरपर पड़ जाता, उसे सुबह उठकर झाड़ डालते थे।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः

मैंने पूछा कि 'संतजी, आप चण्डीकी पर्वतमालामें पड़े रहते हैं, वहाँपर शेर, चीते, गुलदार हाथी आदि बहुत-से हिंस्र जन्तु रहते हैं। कभी आपको मुकाबिला तो नहीं करना पड़ा?' इसके उत्तरमें कहा कि एक बार बड़े दिनोंकी छुट्टियोंमें बिजनौर और सहारनपुरके कलेक्टर यहाँ आये हुए थे, उन्होंने एक दिन एक शेरका शिकार किया। रातको शेरनी गर्जती, तर्जती, डकराती अग्निरूप हुई दहाड़ती हुई चली आयी। (संतजी पहाड़के नीचे जमीनपर पड़े थे) संतजोने फिर कहा कि मेरे मनमें यह विचार उठा कि आज यह क्यों इतनी दहाड़ रही है। फिर यह विचार आया कि 'यह मेरी तरफ क्यों आ रही है? इसके साथ हो यह विचार आया कि मैंने तो इसका कुछ बिगाड़ा नहीं है, आती है तो आ जाय।' जैसे ही वह पास आयी मैं उसी तरह टाँगपर टाँग रक्खे पड़ा रहा। शेरनी पैरोंके बिलकुल समीप आकर झुकी, सूँघा और कुछ समयतक वह बैठी रही, फिर उठकर चली गयी।

भिक्षौषधं भुज्यताम

मेरे यह पूछनेपर कि 'संतजी, आप जब बस्तीमें भिक्षार्थ नहीं आते, तो क्या खाते हैं, वनमें क्या पदार्थ मिल जाते हैं?' इसके उत्तरमें प्रसन्नतासे उनके नेत्र खिल गये। कहने लगे—बेर, हींस, मकोय, बेल आदि जंगली मेवा बहुत रहती हैं। खट्टे बेर और हींस मकोयसे कैसे पेट भरता होगा।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः और जीवन्मुक्तावस्था

एक बार संतजी भिक्षाके लिये कनखलमें यथाकाल कई दिनोंतक जब नहीं आये, तो उनके लिये खोज शुरू हुई। सब स्थान छानते-छानते पर्वत, खोह, वन ढूँढ़ते-ढूँढ़ते और ग्वालों-गड़रियों और जंगलातके आदमियोंसे पूछते-पूछते उन्नीसवें दिन एक खड्डमें पड़े आप पाये गये। चेहरेपर वही सदाकी स्थायी मुसक्यान विराजमान थी। बड़ी मुश्किलसे पहाड़परसे उतरकर खड्डतक गये। वहाँ जाकर जब जङ्घाओंको देखा तो बड़ी भारी सूजन थी, संतजी उठकर बैठ नहीं सकते थे। आदमी भेजकर डोली मँ

कर उसमें संतजीको लिटाकर लोग उन्हें कनखलमें 'रामकृष्णसेवाश्रम मिशन'में लाये। वहाँके योग्यतम डाक्टरने जब जाँघ-पेडूकी परीक्षा की तो उसमें मवाद भरा हुआ पाया। उसकी चीरफाड़के लिये 'क्लोरोफार्म' सुँघानेके लिये उपकरण लाकर नाकके पास रक्खा। संतजीने पूछा कि 'यह क्या है, और किसलिये लाये हैं ?' तो डाक्टर साहबने कहा कि 'यह क्लोरोफार्म है। इसके सूँघनेसे आपको पीड़ा न होगी। इसलिये आप सूँघिये, तब फिर चीरा लगायेंगे।' संतजीने कहा कि 'अच्छा इसे उठाकर रख दो—और जो काम करना हो सो करो।'

डाक्टर साहबने सशंक होकर चीरा लगानेका तेज चाकू उठाकर जाँघमें घुसा दिया—पर वहाँ वही स्थायी मुसक्यान थी। उसे देखकर चाकू आगे बढ़ाया, लगभग एक फुट लंबा चीरा लगा दिया। चूँकि मवाद अधिक था, इसलिये लगभग उतना ही बड़ा दूसरा चीरा और लगाया (× इस प्रकारका चीरा लगाना पड़ा) पर उनकी मुसक्यानमें कोई अन्तर न पड़ा। लगभग एक बालटी भरकर मवाद निकला। जब पट्टी बाँध दी, तो संतजी उठकर जानेको उद्यत हुए। उन्हें खड़ा देखकर हमलोगोंने हाथ पकड़कर प्रार्थना की कि 'संतजी, आप अभी यहाँ ही रहेंगे।' कहने लगे कि 'पट्टी तो बँध गयी अब और क्या काम बाकी है ?' डाक्टर साहबने कहा कि 'जबतक आपका जख्म भर नहीं जाता, तबतक यहाँ ही रहियेगा।' संतजीने कहा कि 'कोई जरूरत नहीं है जाने दें।' इसपर हँसीमें हमने कहा कि 'संतजी, यदि आप अब उठकर भागेंगे तो चारपाईसे बाँध दिये जायँगे।' वे उसी प्रकार स्मितवदन चारपाईपर बैठ गये, और कहा कि 'अच्छा, [illegible]की जगह तख़्त बिछा दो।' तख़्तपर लेट गये, सूक्ष्म और स्थूल शरीरपर कितना आधिपत्य था, यह पाठक स्वयं विचारें।

संतोंका अभूतपूर्व मिलन

इस घटनाको कुछ समय बीत चुका था। गुरुकुलके मुख्याधिष्ठाता पूज्य पण्डित श्रीविश्वम्भरनाथजीके अनुरोधसे पूज्य श्रीअच्युतमुनिजी (भूतपूर्व पण्डित श्रीदौलतरामजी) हरद्वार पधारे और गुरुकुल-मायापुर-वाटिकामें स्थान और ब्रह्मचारियोंको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। मैंने पूज्य स्वामी (अच्युतमुनि) जीसे संतजीका जिक्र किया, और उपर्युक्त चीरफाड़की घटना सुनायी। इसे सुनकर स्वामीजीने आज्ञा दी कि 'जैसे भी हो, हमें संतजीसे जरूर मिलाओ, हमारा हरद्वार आना शायद इसी बहाने हुआ होगा।' मैंने डांडीमें श्रीस्वामीजीको बिठाकर संतजीका पता लगाया, और वहाँपर ले गया। मेरे मनमें यह लालसा थी कि देखें संत कैसे मिलते हैं। संतजीके पास पहुँचकर श्रीस्वामीजी डांडीपरसे उतरकर नीचे आये और संतजीकी ओर जरा बढ़कर एकदम त्राटक (निर्निमेष दृष्टिसे कुछ समयतक देखते रहे) किया। दोनोंने बादमें अत्यन्त उत्फुल्ल नयनोंसे हँसते हुए एक दूसरेकी तरफ देखा।—शायद 'हृदयमेव विजानाति हृदयस्य विचेष्टितम्'। तब श्रीस्वामीजीने पूछा—'संतजी ! समाधिकालमें हमें भी कोई कष्ट नहीं होता, चाहे कोई अंगभंग कितना ही कर ले, पर व्युत्थानकालमें तो शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदितकके भी कष्ट अनुभव होते हैं, फिर आपको कष्टका अनुभव क्यों नहीं हुआ ?' (चीरफाड़के समयको ध्यानमें रखते हुए प्रश्न था) संतजीने उत्तर दिया कि—'जे हरवेले ओही हालत रहे तद' अर्थात् यदि हर समय वही हालत (समाधि लगी) रहे तब ? इस उत्तरसे श्रीपूज्य स्वामीजीको संतोष हो गया। चूँकि स्वामीजीकी गाड़ी-

का समय बहुत तंग हो गया था, इसलिये वहाँसे उठ आये। मार्गमें संतजीके सम्बन्धमें जब बातचीत चली तो कहा कि इनका कोई संस्कार शेष रह गया था, जिससे इन्हें यह शरीर धारण करना पड़ा। बाकी इन्होंने कोई वेदशास्त्रादि नहीं पढ़े हैं, इसलिये ये अपनी स्वाभाविक समाधि आदिका उपदेश नहीं कर सकेंगे, तभी श्रुति है—

'समित्पाणिं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' ये ब्रह्मनिष्ठ हैं पर श्रोत्रिय नहीं !

संतजीका अन्तिम शरीर

जिन दिनों संतजीका यह आपरेशन हुआ था, तब एक दूसरे संत स्वामी श्रीसियारामजी महाराज भी वहाँ विराजमान थे। वे संतजीसे बोले कि— 'भोग तो भोगना ही पड़ता है, देखिये आप किसी-को निन्दा-स्तुतिमें नहीं, सबसे पृथक् हैं, फिर भी यह भोग भोगना ही पड़ा।' इसके उत्तरमें संतजी बोले कि—'बात यह है कि जब दूकान बंद होने लगती है तो पैसे-पैसेका भी तकाजा होता है। देखो जैसे कोई अमृतसरका रहनेवाला हरद्वारमें आकर दूकान करे, और खरीद-फरोख्तके लिये बाहर जाता-आता रहे, दूकान चाहे कुछ दिनोंके लिये भले बंद रहे, हजारों-लाखोंतकका तकाजा कोई नहीं करता, क्योंकि हजारोंका लेना-देना फैला रहता है। पर यदि यह मालूम हो जाय कि यह दूकानदार अब लौटकर दूकानपर नहीं आवेगा तो पैसे-पैसेका भी कड़ा तकाजा होने लगता है।' यह कहकर चुप हो गये। मैंने बहुत पूछा पर कुछ उत्तर न दिया चूँकि उत्तर बिलकुल स्पष्ट था कि यह दूकान सदाके लिये बंद करके दूकानदार संत अब जा रहा है। जन्म-जन्मान्तरका बचा-खुचा तकाजा अब खतम हो गया।

संतोंकी नोकझोक

जहाँतक मुझे स्मरण है इन्हीं दिनोंमें या इससे एक वर्ष पूर्व एक बार संतजी स्वामी श्रीसियारामजीसे बोले कि 'अबकी कहाँ जाना है ?' स्वामीजीने कहा कि 'उत्तराखण्डका विचार है, अब गर्मी विशेष पड़ने लगी है।' तो संतजी बोले—'तू तो बड़ा प्राणायाम करता है, समाधि लगाता है, तुझे सर्दी-गर्मी कैसी।'

इसपर स्वामीजीने उत्तर दिया कि—'यह शरीरका भोग है।' अच्छा संतजी, आपके हाथमें वह क्या है ? (उसमें शायद खानेकी तमाखू या अफीममेंसे कोई वस्तु थी मुझे ठीक स्मरण नहीं है) संतजीने दिखा-कर कहा 'यह है' तब स्वामीजीने कहा कि 'संतजी, आपको इसकी क्या जरूरत ?' संतजीने कहा 'मुझे तो कोई जरूरत नहीं, किसीने दे दी सो ले ली।' स्वामीजीने इतना फिर कहा कि 'संतजी, हमें कोई क्यों नहीं दे देता ?' दोनों चुप होकर अधिक स्मित-वदन हो गये।

मनुष्य विषयोंमें कैसे फँसता है

वार्तालापमें संतजीने. एक दिन कहा—एक ऊँट एक जंगलमें लेटा हुआ था, उसकी जीभ बाहर-को निकली हुई थी। दूरसे एक लोमड़ीने देखा कि 'बड़ा सुन्दर, मुलायम और ताजा यह मांस खाकर कितना आनन्द आयेगा। इसे जरूर खाना चाहिये' यह सोचकर दबे पैरों आयी और लपककर उसने ऊँटकी जीभ पकड़ ली। ऊँट भी जीभ अंदर खींचकर, उठकर खड़ा हो गया, और दाँतोंसे लोमड़ीका सिर दबा दिया।

संतजी दृष्टान्तके बाद कभी दार्ष्टान्त नहीं दिया करते थे। बहुत आग्रह करनेपर भी उन्होंने दार्ष्टान्त नहीं दिया—चूँकि दृष्टान्त इतना स्पष्ट और व्यापी था कि स्पष्टीकरणकी जरूरत न थी। मनुष्यकी [illegible]

और उपस्थका यदि संयम हो जाय तो बहुत बड़ा संयम हो सकता है। दूसरा, मनुष्य सुन्दर और आनन्दप्रदकी कल्पनाका मुलम्मा चढ़ाकर जिस विषयके पीछे भागता है उसमें वह लोमड़ीके समान लटका रह जाता है।

विषयनिवृत्तिका उपाय

संतजीने एक दिन फरमाया कि—एक साधु था, उसका चित्त जलेबी खानेको इतना लालायित हुआ कि परेशान हो गया, तो वह हलवाईकी दूकानपर जाकर बोला,—'ले खा ले—भरपेट खा ले, फिर दिक न करना।' कहकर चुप हो गये।

दार्ष्टान्त स्पष्ट है कि मनुष्य अपने मन-शरीर और आत्माके पृथक्-पृथक् होनेका विवेक रक्खे—उसमें तादात्म्यभाव पैदा न होने दे तो मन स्वयं ढीला हो जायगा।

जीवनकी एक अन्य घटना

एक बार एक सिंधी सन्तानार्थी सज्जन संत मथुरादासजीकी तलाशमें फिरते-फिरते आये और गंगातटपर विराजमान संतजीको आखिर ढूँढ़ ही लिया—और बोले कि 'आपहीका नाम संत मथुरादास है?' संतजीने कहा 'मेरा नाम मौलाबक्स है।' इसपर वह सिंधी फिर उसी व्यक्तिके पास गया जिसने संतजीका पता दिया था। वह व्यक्ति भी आया और कहा 'ये ही तो संत मथुरादासजी हैं।' इसपर वह सिंधी उनको चिपक गया और अशर्फियोंकी थैली सामने रख सन्तानप्राप्त्यर्थ आग्रह करने लगा। संतजीने कहा कि 'मेरे पास कहाँ बच्चे रक्खे हैं—मैं क्या बच्चे बाँटता फिरता हूँ।' वह जब किसी प्रकार भी नहीं माना तो संतजीने पूछा कि 'अच्छा एक बातका उत्तर दो कि यदि तुम्हारी लड़कीकी शादी हो, बारात दरवाजेपर पहुँचनेवाली हो, उस समय यदि कोई तुम्हारी रसोईमें, जिसको कि लीप-पोतकर साफ करके रक्खी हो, अंदर चूल्हेमें जाकर टट्टी कर दे तो तुम क्या करोगे?' वह सिंधी बोला कि 'संतजी! मार-मार डंडे हड्डी-पसलियें तोड़ दूँगा और यदि बस चलेगा तो खाल खिंचवा लूँगा।'

संतजीने कहा कि इसी प्रकार हम सब चीजोंको छोड़कर निर्जन एकान्त गंगातटपर आये हैं, परमेश्वरकी पूजाके लिये चौका लगाकर बैठे हैं, तू यह अशर्फियोंकी थैलीरूप उसमें टट्टी करता है। कुछ शरम नहीं आती? तब वह समझ गया और उसने संतजीका पिण्ड छोड़ा।

जीवनलीलासमाप्ति

मैं उन दिनों रियासत ग्वालियरमें था, जब कि मैंने सुना संतजीका शरीर शान्त हो गया। संतजी यावदायुष् अन्य किसी भी रोगसे पीड़ित नहीं हुए जिसको साक्षी चिकित्सकचूडामणि पं० श्रीयागेश्वरजी कनखलनिवासीका वे उल्लेख किया करते थे। पर शरीरान्त शायद न्यूमोनियासे हुआ। वे तो शरीरको सदासे छोड़े बैठे थे पर शरीर ही उन्हें नहीं छोड़ता था, भगवान्‌की इच्छासे इन विदेह संतका लगभग एक सौ पचीस वर्षकी अवस्थामें इस प्रकार यह शरीर सदाके लिये छूट गया। इस सम्बन्धमें विशेष पता पं० श्रीयागेश्वरजीसे चल सकता है। उन्हींके यहाँ स्वामी श्रीसियारामजी महाराज ठहरा करते थे, और संतजीका भी विशेषरूपसे कनखल-हरद्वार रहना हुआ करता था। शायद सन् १९२६ या १९२७ ईस्वीमें शरीर शान्त हुआ।

हीरेकी खराद

(लेखक—श्रीकेशवनारायणजी अग्रवाल)

हीरा भूमिपर पड़ा है—प्रकृति माताकी गोदसे निकला, धूलमें लिपटा, भद्दे बेडौल अङ्गोंवाला हीरा भूमिपर पड़ा है। समीपसे निकलनेवालोंसे तिरस्कृत, बालकोंसे ठुकराया हुआ, उड़ती हुई धूलका आश्रय-दाता हीरा आश्रयविहीन भूमिपर पड़ा है।

हीरोंकी खोजमें विचरते हुए हीरेन्द्र उधरसे निकलते हैं। हीरेका एक नन्हा-सा किनारा जो दैवयोगसे धूलसे सुरक्षित बचा था सूर्यदेवकी किरण-के स्पर्शसे चमक उठता है—साथ ही हीरेन्द्रके नेत्र आनन्दसे चमक उठते हैं। हीरेन्द्र हीरेको हाथमें उठा लेते हैं।

'तुम तो हीरक हो—यहाँ कैसे पड़े हो?'

'आह! तुमने मुझे पहिचान लिया?'

'राजाके मुकुटपर चढ़ोगे?'

'वहाँ कौन पहुँचावेगा मुझे?'

'मैं—परन्तु क्या तुम अपना हृदय खोलने दोगे?'

'कैसे?'

'खरादपर चढ़ाकर।'

'क्या होगा?'

'तुम्हारी धूल-मिट्टी खरोंचकर फेंक दूँगा।'

'तब तो मैं स्वच्छ हो जाऊँगा।'

'तुम्हारे विकृत बेडौल अङ्ग काटकर गिरा दूँगा।'

'ओह! बड़ी पीड़ा होगी।'

'अभी तुम्हारा हृदय एक द्वारसे प्रकाश उगलता है—'

'फिर?'

'फिर हजार द्वारसे प्रभा छिटकावेगा।'

'ओह! तब तो मैं प्रकाशपुञ्ज हो जाऊँगा।'

'वह तो तुम्हारा प्रकृतिदत्त अधिकार है।'

'बहुत पीड़ा तो न होगी?'

'राजाके मुकुटपर चढ़ना सहज नहीं है।'

'अच्छा तो ले चलो।'

'सब सहनेको प्रस्तुत हो?'

'हाँ—चलो।'

खरादपर हीरा चढ़ता है। खराद धीरे-धीरे चलती है, धूल-मिट्टी झड़कर गिरने लगती है। हीरा सुख अनुभव करता है। हीरा नग्न रूपमें हीरेन्द्रके सामने प्रकट होता है। हीरेन्द्र एक दृष्टिमें हीरेकी नोंकें और भद्दापन देख लेते हैं।

खराद तेजीसे चल उठती है। खरादकी रगड़से चिनगारियाँ उठती हैं। हीरा सिहर उठता है। हीरा खराद रोकनेको कहता है परन्तु खराद नहीं रुकती। पहलू बदल-बदलकर रगड़ें लगती हैं। हीरा गिड़गिड़ाता है—चिरौरी करता है। खराद रुकती है और हीरा कोमल स्पर्शका अनुभव करता है। खरादपरसे उतरकर हीरा हीरेन्द्रके हाथपर आ बैठता है।

'अब तो मैं पहलेसे बहुत चमकदार हूँ।'

'हाँ'

'तो चलिये राजदरबार।'

'अभी वह घर बहुत दूर है।'

'फिर क्या करना है?'

'अभी तो अङ्ग सुडौल बनाना है।'

'क्या फिर खरादपर चढ़ाओगे?'

'हाँ'

'मैं हाथ जोड़ता हूँ—'

हीरा फिरसे खरादपर चढ़ा दिया जाता है और ख़राद तीव्र गतिसे चलने लगती है। इस बार खरादमें छाँटनेवाला यन्त्र लगा दिया जाता है—हीरेके अङ्ग कट-कटकर गिरने लगते हैं—हीरा चीखता है, चिल्ला

है परन्तु खराद नहीं रुकती । प्रार्थना, चिरौरी सब बेकाम होनेपर हीरा गालियाँ देता है—परन्तु कोई असर नहीं होता, खराद तो समयपर ही, हीरेन्द्रकी आज्ञासे ही रुकती है । फिरसे वही कोमल स्पर्शका अनुभव होता है और हीरा हीरेन्द्रकी हथेलीपर आ बैठता है ।

'आह ! अब तो मैं बड़ा सुन्दर हूँ ।'

'हाँ'

'फिर चलो न राजदरबार ?'

'अभी वह घर बहुत दूर है ।'

'तो क्या करोगे ?'

'उसी खरादपर चढ़ाऊँगा ।'

'क्यों ?'

'तुम्हें राजदरबारमें चलनेयोग्य बनानेके लिये ।'

'यह कबतक होगा ?'

'अभी सैकड़ों बार यों ही चढ़ो-उतरोगे ।'

'हाय-हाय'—

हीरा फिर खरादपर रख दिया जाता है—फिर वही सब क्रम चलता है । सैकड़ों बार चढ़ना और उतरना—अन्तमें सुडौल रूपमें हीरा हीरेन्द्रके हाथमें आता है ।

'अब तो मैं एकदम सुडौल हूँ ।'

'हाँ, हो तो'

'फिर अब देर काहेकी है ?'

'अभी तो तुम एक द्वारसे ही प्रकाश उगलते हो ।'

'सो कैसे ?'

'जो हाथमें लेता है वही तुम्हारी चमक देखता है ।'

'फिर क्या चाहते हो ?'

'हजार द्वारसे तुम्हें चमक दिखानी होगी ।'

'कैसे ?'

'मैं तुम्हारे हजार पहलू बनाऊँगा ।'

'क्यों ?'

'ऊपर-नीचे, अगल-बगल सभी ओर तुम एक-से चमको ।'

'कारण ?'

'राजाके मुकुटके हीरे सभी ओर एक-सा प्रकाश डालते हैं ।'

'कैसे होगा ।'

'वही, खरादपर चढ़नेसे ।'

इस बार हीरा मौन रहा ।

खरादपर हीरा फिर चढ़ाया गया—परन्तु इस बार चीख-चिल्लाहट न थी । मौन वेदनाके साथ राजदरबारमें शीघ्र पहुँचनेका आनन्द सम्मिलित था । फिर भी अनेकों बार चढ़ना-उतरना हुआ । अन्तमें खरादका कार्य पूरा हुआ—हीरेन्द्रने घोषित किया—'अब खरादपर फिरसे चढ़नेकी आवश्यकता नहीं है ।'

हीरा हीरेन्द्रकी हथेलीपर बैठा है । प्रकाशपुञ्ज चतुर्दिक् छिटक रहा है । हीरा मौन है ।

'हीरे ! अब नहीं पूछते कुछ ?'

'क्या पूछूँ प्रभो !—सभी तो प्रत्यक्ष है ।'

'राजदरबारमें चलो न ?'

'मुझे बड़ी लज्जा आती है ।'

'काहेकी ?'

'नाथ ! तुम्हें मैंने कितनी गालियाँ दी हैं—'

'सो क्या हुआ ?'

'और आप सदा प्रकाश ही देते रहे ।'

'यही नियम है—अच्छा तो चलो न ?'

'नाथ ! क्यों लजाते हो—तुम्हीं तो राजा हो ।'

'क्या पहचान गये ?'

हीरा चरणपर खिसक पड़ता है—हीरेन्द्र उसे उठाकर अपने मुकुटपर चढ़ा लेते हैं ।

संतभावदर्शन

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

जो महापुरुष भगवत्स्वरूपमें स्थित हैं। दैवीसम्पत्ति जिनसे एक क्षणके लिये भी कभी अलग नहीं होती। जो स्वयं मंगलस्वरूप हैं। जिनके शरीर, प्राण, अन्तःकरण और जो कुछ वे स्वयं हैं, उससे आनन्द, शान्ति, प्रेम और ज्ञानकी अखण्ड धारा प्रवाहित होकर सारे संसारको आप्लावित, आप्यायित करती रहती है उन संत-महात्माओंके चरणकमलोंमें कोटि-कोटि साष्टांग प्रणिपातके पश्चात् उनके अनिर्वचनीय अनन्त भावोंके सम्बन्धमें निर्वचन करनेकी अनधिकार चेष्टा की जाती है। इस बालसुलभ चपलताको देख-देखकर हम अबोध अथच नन्हें-नन्हें शिशुओंके स्वतः-सिद्ध दयामय मा-बाप संत-महात्मा प्रसन्न ही होंगे, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं।

निष्कामकर्मकी परानिष्ठा कहें अथवा परमप्रेमकी उपलब्धि, ज्ञानस्वरूपकी अनुभूति कहें अथवा महानिर्वाणकी प्राप्ति, चाहे जिस शब्दके द्वारा संतोंकी स्थितिका वर्णन किया जाय वह है एक ही, और उसमें नित्य शान्ति, नित्य तृप्ति और नित्यानन्दकी स्थिति समानरूपसे है। वह मत, पन्थ, सम्प्रदाय एवं विभिन्न साधनों तथा साध्यके नामोंके भेदसे न विभिन्न होती है न हो सकती है। सांसारिकोंका मोह, अज्ञान, भ्रम, आसक्ति, विकार एवं दुःख, शोक, क्षोभ आदिके भाव न उनमें रहते हैं न रह सकते हैं। वे भगवान्से एक हैं, भगवान्के हैं, उनका भगवत्सम्बन्ध अखण्ड है। वह कभी टूट नहीं सकता। संतोंका मुख्य लक्षण भगवत्स्वरूपमें स्थिति है। दैवीसम्पत्तियोंका प्रकाश भी संतोंका लक्षण है। परन्तु वह भगवत्सम्बन्ध सापेक्ष है। किसी भी दशामें बिना भगवान्के दैवीसम्पत्तियोंकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो नहीं सकती। यथाकथञ्चित् यदा-कदा, यत्-किञ्चित् दैवीसम्पत्तियोंका यदि भगवान्के बिना दर्शन होता है तो वह क्षणिक है, अस्थायी है और एक-न-एक दिन उसका नाश हो जायगा। संतभावका अर्थ है दैवी-सम्पत्तियोंकी अविचल प्रतिष्ठा और वह तभी हो सकती है, जब भगवान्के साथ अविचल सम्बन्ध हो। अतः संतोंकी परिभाषामें मुख्य स्थान भगवत्सम्बन्धका है और उसके पश्चात् दैवीसम्पत्तियोंका। भगवत्सम्बन्ध होनेपर दैवी-सम्पत्तियाँ आती ही हैं, बिना आये रह नहीं सकतीं। चाहे वे किसी सम्प्रदायके संत हों, इस मूल लक्षणमें अन्तर नहीं होता। हाँ, उनकी भगवान्के स्वरूप और सम्बन्धके विषयमें विभिन्न मान्यताएँ हो सकती हैं।

जीवन्मुक्ति अथवा इससे भी विलक्षण अवस्थाओंके भेद-विभेदमें अधिकांश तो शब्दजाल ही कारण हुआ करते हैं। परन्तु कहीं-कहीं वस्तु-स्थितिके एक होनेपर भी साधनोंके भेदसे सिद्धावस्थाके भी विभिन्न प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। साधन करते समय वस्तु-स्थितिका पता न हो (और वास्तवमें नहीं रहता) तो भी वस्तुस्थितितक पहुँचनेमें बाधा नहीं पड़ती। क्योंकि वह साधना साधकको क्रमशः साधनसोपान-पर आरूढ़ करके गन्तव्य स्थानतक पहुँचा देती है। 'पूर्व-भूमौ कृता भक्तिरुत्तरां भूमिमानयेत्' अतः साध्यके सम्बन्धमें पूर्ण कल्पना न होनेपर भी अपनी कल्पनाके अनुसार भावना करते-करते जब हम उस कल्पनाके अनुरूप पदपर पहुँच जाते हैं तब आगेका मार्ग स्पष्ट दीखने लगता है और फिर आगे बढ़नेमें किसी प्रकारके सन्देहका अवसर नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि साधनाकी दृष्टिसे अभ्यासवश सिद्धदशामें विभेद दीखनेपर भी वास्तवमें भेद होता नहीं, सब भेदोंका मिट जाना ही वास्तविक संतभाव है। संतमात्र ही इस पदपर आरूढ़ होते हैं।

संतोंके अन्तस्तलका आनन्द उनके अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, शरीर और आस-पासके प्रदेशोंको परिपूर्ण किये रहता है। अतः उनके दर्शनमात्रसे महान् आनन्दका सञ्चार होता है और बहुत-से पारखी उनकी बाह्य आकृति देखकर भी उनके आन्तरिक आनन्दका अनुमान लगा लेते हैं। उनके हाथ, सिर एवं नेत्रादिपर ऐसे चिह्न भी आ जाते हैं जिन्हें देखकर इस चिह्नविद्याका विद्वान् संतोंको पहचान सकता है। इसी अर्थमें कबीरके—

'संतको देखिय आँख रु माथा'

—इस वचनकी सार्थकता है। परन्तु ये सब लक्षण अपूर्ण हैं। वास्तवमें सत् तत्त्वसे एक होनेके कारण संत अनिर्वचनीय है और इसीमें उसकी महिमाका भूमायन है।

संत भगवत्प्रेमी होता है। परन्तु उसका प्रेम सांसारिक लोगोंकी भाँति नहीं होता। उसका प्रेम अप्राकृत होता है अर्थात् जैसे साधारण प्राणी प्रेम करते हैं तो उनमें प्रे[illegible]

प्रियतम और दोनोंका सम्बन्ध यह तीन वस्तुएँ होती हैं। परन्तु वहाँ तीन न होनेपर भी प्रेम है, एकत्व है और यह एकत्व या प्रेम ही प्रेमी और प्रियतमके रूपमें तीन भी है। यह एक, दो और तीनका पचड़ा वहाँ न होनेपर भी है और होनेपर भी नहीं है। यह विरुद्ध धर्माश्रयता ही संतके प्रेमकी अप्राकृतिकता है। उनकी दृष्टिमें आत्मा और अनात्माका भेद नहीं है अर्थात् आत्माकी अपेक्षा रखनेवाले अनात्माका एवं अनात्माकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माका अभाव बोध होकर, इन दोनोंसे रहित जो एक शुद्ध वस्तुतत्त्व प्रेम एवं ज्ञानस्वरूप है, वही रहता है। अतः वहाँ दूसरोंकी दृष्टिमें जो सब कुछ है वह उसका अपना आपा है और अपने आपकी यह स्थिति ही संत-स्थिति है। यही उसका सर्वात्मभाव है। यह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओंकी अपेक्षा तुरीय अवश्य है परन्तु वास्तवमें निरपेक्ष होनेके कारण तुरीयातीत भी है। अवस्थाओंके सम्बन्धमें जितने भेद हैं, वे सब अवस्थाओंकी अपेक्षासे ही हैं और संत तो इन अवस्थाओंको अपने अंदर आत्मस्वरूपसे अपनाये हुए हैं।

कतिपय उपनिषदों एवं योगवाशिष्ठादि ग्रन्थोंमें सात भूमिकाओंका वर्णन आता है। यद्यपि उनमें सामान्यतः दो ही विभाग किये जा सकते हैं, एक साधनभूमिका और दूसरी सिद्धभूमिका, तथापि शास्त्रोंमें और योगवाशिष्ठमें ही विभिन्न प्रकारसे उनके वर्णन हुए हैं। यहाँ इतना समझ लेना चाहिये कि पहलेकी तीन भूमिकाएँ (शुभेच्छा, विचारणा एवं तनुमानसा) साधन हैं। इनमें क्रमशः वैराग्यपूर्वक जिज्ञासा, अभ्यासपूर्वक ऊहापोह और उन दोनोंके बलपर विषयोंमें अनासक्ति तथा वासनाओंकी कमी होती है। चौथीसे लेकर सातवींतक सिद्धभूमिकाएँ हैं। इनमें क्रमशः सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थोंकी अभावना और एकमात्र वस्तु-स्थितिमें ही स्थित रहना अथवा चौथी भूमिकामें बोध और पाँचवींसे लेकर सातवींतकमें स्वरूपसमाधिके अवान्तर-भेदोंका अनुभव होता है। जैसे कि पाँचवींमें समाधिसे स्वतः व्युत्थान, छठीमें परतः व्युत्थान और सातवींमें अव्युत्थान सर्वदा एकरस सहज स्थिति हो जाती है। इन्हीं चार सिद्ध-भूमिकाओंमें स्थित पुरुषको क्रमशः विद्वान्, विद्वद्वर, विद्वद्वरीयान् एवं विद्वद्वरिष्ठ भी कहते हैं। इन्हीं अवस्थाओंके अवान्तरभेदोंमें ब्रह्मनिर्वाण, शून्यनिर्वाण, परिनिर्वाण एवं [illegible]परिनिर्वाण भी अन्तर्भूत हो जाते हैं। अवस्थाओंके ये भेद-विभेद शरीरकी स्थितितक ही रहते हैं। शरीरपात होनेके पश्चात् इन सभी सिद्धोंकी एक-सी ही स्थिति होती है।

यदि संत चाहें तो भगवान्के लीलालोकोंमें उनका सामीप्य, सारूप्य आदि प्राप्त कर सकते हैं और संतोंके न चाहनेपर भी अनेकोंपर कृपा करके भगवान् अपने लोकमें, पार्षदोंमें अपना ही रूप देकर अथवा और किसी रूपमें बुला लेते हैं। जबतक उनकी इच्छा होती है अपने परिकरोंमें रखते हैं अथवा नित्यपरिकर बना लेते हैं। कभी-कभी अपने ही जैसा ऐश्वर्य दान करके जगत्की रक्षा-दीक्षामें लगा देते हैं और कभी-कभी अपनेमें मिला लेते हैं। परन्तु संत यह सब कुछ चाहता नहीं। वह भगवान्का नित्यकिंकर रहता है अर्थात् उसके शरीर, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण सब-के-सब भगवान्की प्रेरणासे ही हिलते-डोलते एवं सोचते-विचारते हैं। इस प्रकार वह अपने वास्तविक आत्मस्वरूप प्रभुकी सेवामें ही संलग्न रहता है और इसके सामने कैवल्यतककी अभिलाषा नहीं करता। भक्तियोगी संतोंकी ऐसी मान्यता है कि भगवान् मुक्ति तो बड़े सस्ते दे देते हैं, परन्तु भक्तियोग अर्थात् अपनी सेवाका अवसर बड़ी ही कठिनतासे देते हैं। जिन्होंने भगवत्-तत्त्वकी उपलब्धि कर ली है, जो भगवान्के अपने सगे-सम्बन्धी हो गये हैं उनके लिये मुक्तिकी अभिलाषाका न होना स्वतःसिद्ध ही है।

जब संत भगवान्से एक हैं अथवा भगवान्की सधर्मता प्राप्त कर चुके हैं, तब संसारके सारे कार्य, और कार्य ही क्यों सारे पदार्थ उनके लिये भगवत्स्वरूप हैं अथवा भगवान्की लीलामात्र हैं। जब उनके प्रियतम आत्मदेव ही विविध रूपोंमें लीला कर रहे हैं, यह सब कुछ उन्हींका प्रकाश है, तब भला संत इन लीलाओंके अन्तस्तलमें और बाहर भी भगवान्की अनूप रूपमाधुरीका आस्वादन करके क्यों न आनन्दित होंगे? वे तो आनन्दस्वरूप ही हैं फिर भी आनन्दमयकी आनन्दमयी लीलाओंके साथ लीलामय प्रभुका दर्शन करके वे अपनी आनन्दमयताको प्रतिपल अनन्तगुणा बढ़ाते रहते हैं। उनके शरीर, इन्द्रियाँ एवं प्राण भगवान्की बाह्यलीलामें लगे रहते हैं तो उनके मन, बुद्धि एवं आत्मा भगवान्की अप्रकट किन्तु नित्य होनेवाली लीलामें लगे रहते हैं और यही कारण है कि उनके शरीरके पिण्डके रूपमें रहनेपर भी और ब्रह्माण्डके अन्तर्गत होनेपर भी वे पिण्ड और ब्रह्माण्डके अंदर बँधे नहीं रहते बल्कि इनसे ऊपर

बहुत ऊपर भगवान्‌के नित्य दिव्य परमधाममें विहार करते रहते हैं एवं शून्य, महाशून्य तथा अतिशून्यसे ऊपर उठकर प्रभुके विज्ञानानन्दघनधाम, लीला, नाम एवं रूपोंमें ही रमते रहते हैं। वे स्वयं विज्ञानानन्दघन होते हैं। उनका शरीर अप्राकृत एवं चिन्मय होता है और वे सम्पूर्ण लोकोंमें एवं सम्पूर्ण वस्तुओंके मूलमें पहुँचे हुए ही होते हैं एवं स्फुरणा होते ही पहुँच जाते हैं। चतुर्दशलोक और त्रिभुवनकी तो बात ही क्या प्रकृति और प्रकृतिसे परे जहाँ देश और काल-की स्थिति नहीं है ऐसी कोई वस्तु या भाव नहीं जो संतका अपना ही रूप न हो और जहाँ वह न पहुँच सके। किसी प्रकारके द्वन्द्व उसकी वृत्तिकी आश्रयपरायणतामें विघ्न नहीं डाल सकते। वह सर्वदा भगवत्परायण होता है। सारे लोक उसीकी कृपाके बलपर टिके हुए हैं—संतोंने ही सम्पूर्ण सृष्टिको धारण कर रक्खा है।

साधनाके समय जब संतलोग विभिन्न प्रकारके साधनोंसे अपनी वृत्तियोंको मोड़कर अन्तर्मुख होते हैं तब उनके सामने अनेकों प्रकारके दृश्य नदी, समुद्र, वन, पर्वत एवं अनेकों देवी-देवताओंके लोक आते हैं। कहीं ब्रह्मा, कहीं विष्णु, कहीं मुरलीमनोहर भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन होते हैं। कहीं कङ्कणके, कहीं किङ्किणीके, कहीं बाँसुरीके, तो कहीं वीणाके एवं कहीं-कहीं पखावज तथा मेघकी गम्भीर एवं बड़ी ही मधुर ध्वनि सुनायी पड़ती है। कहीं भौंरोंकी मधुर गुञ्जार, तो कहीं प्रेमके बादलोंकी गर्जना, कहीं उनके प्रेमरसकी बूँदोंका टपकना, अनेकों प्रकारकी बातें सामने आती हैं। इस अवस्थाका अनुभव करके संतोंने बड़ी मस्तीके साथ गाया है—'रस गगन गुफामें अजिर झरै' और उन नादों एवं दृश्यों तथा आनन्दके तारतम्यानुसार उनका नाम-करण भी किया है। किसीका नाम बंकनाली है तो किसीका नाम भ्रमरगुहा है। इन बातोंका विशेष वर्णन संत-साहित्यमें मिलता है।

संतोंके व्यावहारिक जीवनकी बात बहुत ही निराली है। युगोंकी स्थिति, लोगोंकी प्रवृत्ति, अपना पूर्वाभ्यास, प्रारब्ध, लोकदृष्टिसे बचनेकी भावना एवं और भी अन्यान्य कारणोंसे संतोंके व्यावहारिक जीवनमें अनेकों प्रकारके भेद दृष्टिगोचर होते हैं। कभी-कभी तो वे अपनेको बालक, जड़, उन्मत्त और पिशाचोंकी भाँति बना लेते हैं और ऋषभदेव, दत्तात्रेय आदिकी भाँति विचरण करते रहते हैं और अपनेको संसारियोंकी दृष्टिसे बचाकर भी अपने संकल्पसे सारे जगत्‌का कल्याण करते रहते हैं। और कभी-कभी आचार्य आदिके रूपमें प्रकट होकर सर्वथा लोगोंके अनुकरण करनेयोग्य आचरण एवं उपदेश करके सबको सन्मार्गपर चलाते हैं। ऐसी स्थितिमें यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि साधारण जनता किसके चरित्रोंका अनुकरण करे और किसके उपदेशोंके अनुसार चले। इस विषयमें सम्पूर्ण संतोंकी यही आज्ञा है और यही बात युक्तियुक्त भी है कि जिनके आचरण और उपदेश शास्त्रानुकूल हों उन्हींके ग्रहण किये जायँ। उनके आचरण एवं उपदेश शास्त्रविरुद्ध होते नहीं परन्तु अधि-कारभेदके कारण सबके लिये वे कर्त्तव्य नहीं हुआ करते। जिस भूमिकामें पहुँचकर संत जडवत्, उन्मत्तवत् विचरते हैं उस भूमिकामें वही शास्त्रीय है। परन्तु हमारा वर्तमान जीवन जिस स्थितिमें है उसमें वह उपयोगी नहीं। अतः जिनके जीवनमें भगवत्सम्बन्धके साथ-साथ दैवीसम्पत्तियोंका विकास एवं पूर्णता हुई है हमें उन्हींकी शरण ग्रहण करके अपना गन्तव्य मार्ग निर्धारित करना चाहिये।

संतोंके जीवनमें वैराग्य, त्याग, सार्वजनीन प्रेम, सेवा, सरलता, निर्भयता, स्वार्थका अभाव, परार्थदृष्टि एवं स्व-परके भेदसे ऊँची समदृष्टि और अपने शरीरमें पीड़ा होनेपर उसके निवारणके लिये संसारियोंकी जैसी इच्छा होती है वैसी ही सबकी पीड़ाका निवारण करनेके लिये स्वाभाविक करुणाका होना अनिवार्य है। पूर्णप्रज्ञा और अपरिमित करुणाका नित्य सम्बन्ध है। जहाँ सर्वज्ञता है, हमारे हृदयके एक-एक भावोंका सम्पूर्ण बोध है, वहाँ हमारे पतन, हमारी स्वार्थपरता और हमारे दुःख बरबस करुणाका सञ्चार कर देते हैं। जो हमारे हृदयकी बात नहीं जानते वे भी हमारे बाह्य क्रन्दनको सुनकर द्रवित हो उठते हैं। संत तो हमारे हृदयकी सची अवस्था जानते हैं। वे हमारी व्यथा, हमारी पीड़ाको अपनी ही समझकर उसे दूर करनेके लिये व्याकुल रहते हैं और वास्तवमें वे इस करुणाके कारण ही संसारमें हैं भी, अन्यथा वे क्योंकर इस विषम संसारपर दृष्टि डालते।

यद्यपि संत विधि-निषेधके परे होते हैं और यह अवस्था ज्ञानकी परिपूर्णता तथा भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है। भागवतमें कहा है—

> यदायमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
> प्रजहाति तदा लोके वेदे च परिनिष्ठताम्॥

अर्थात् आत्मरूपसे भावना करते-करते जब भगवान्‌का परिपूर्ण अनुग्रह प्राप्त होता है, उनके सर्वत्र विस्तृत अनन्त अनुग्रहका अनुभव होता है, तब लोकनिष्ठा एवं वेदनिष्ठा दोनोंका ही परित्याग हो जाता है। उनके लिये एक ही विधि है आत्मदेव भगवान्‌की नित्य स्मृति, और एक ही निषेध है उनके अतिरिक्त सम्पूर्ण पदार्थोंकी स्मृति, जब वेद भगवान्‌के रूपमें नहीं, उनसे पृथक् होकर सामने आते हैं और जब लोक भगवान्‌के रूपमें नहीं, लोकके रूपमें सामने आते हैं तब संत उनपर या उनकी बातोंपर दृष्टि न डालकर उनसे निरपेक्ष रहते हैं। तथापि लोगोंके कल्याणके लिये वे शास्त्रोंकी रक्षा करते हैं और वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हैं। संतोंके ढूँढ़नेके समय यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि ब्राह्मणादि चारों वर्ण और ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंमें रहकर संत उन वर्ण और आश्रमोंके धर्मका उल्लंघन नहीं करता। जैसे वह ब्राह्मण वर्णमें है तो सन्ध्या आदि नित्य नियमोंका उल्लंघन नहीं करता और संन्यास आश्रममें है तो रुपयेका स्पर्श, स्त्रीका दर्शन, महलोंमें रहना या बनवाना आदि जो शास्त्रविरुद्ध कार्य हैं उन्हें नहीं करता। यदि वर्णाश्रममें रहकर ऐसा करता है तो जिज्ञासु मुमुक्षुओंको उससे बचना चाहिये और उसके फन्देमें फँसकर अपने लोक-परलोकको नष्ट नहीं करना चाहिये।

संतोंके जीवनमें नाना प्रकारकी सिद्धियों और चमत्कारोंके लिये प्रधान स्थान नहीं होता। यद्यपि परमात्मपथपर अग्रसर होनेके पश्चात् अनेकों प्रकारके चमत्कार और सिद्धियाँ प्रायः आ जाती हैं, परन्तु भगवत्कृपाके आश्रित होनेसे संत उनकी उपेक्षा कर देता है। कभी उन्हें अपनाता नहीं। इतना सब होनेपर भी कई बार उनके संकल्प पूरे हो जाते हैं, उनकी कही हुई बात सच उतर जाती है, इसलिये दुनियाँदारलोग इसे चमत्कार मान लेते हैं। अबतक जितने संत हुए हैं उनके जीवनमें इन चमत्कारोंका आरोप किया गया है। आज भी किया जाता है और आगे भी किये जानेकी सम्भावना है। संतोंकी दृष्टिमें इसका कोई महत्त्व नहीं है। उन्होंने बार-बार चमत्कारोंकी, सिद्धिप्रदर्शनकी निन्दा की है।

संतोंके कारण ही इस सृष्टिकी सफलता है, उन्हींके जन्मसे कुल, जननी और जन्मभूमि कृतार्थ होती हैं। उनका जीवन श्रद्धा और ज्ञानसे परिपूर्ण होता है। वे ऐसे किसी बुद्धिवाद, तर्क-वितर्कको आश्रय नहीं [illegible] जो आत्मसाक्षात्कारकी ओर दृष्टि न रखता हो। वास्तवमें बात यह है कि बड़ी-बड़ी युक्तियों, शास्त्रोंके बड़े-बड़े उद्धरणोंका तबतक कोई महत्त्व नहीं है जबतक वे बहिर्मुखताको हटाकर अन्तर्मुखताकी ओर नहीं ले जाते। उनका महत्त्व इसीमें है कि वे आत्मसाक्षात्कारकी ओर ले जायँ। अतः संतोंका उपदेश है कि कोरे तर्कोंसे बचो और सम्पूर्ण युक्तियोंके मूलमें अन्तर्दृष्टिको ढूँढ़ो।

उपासनाका जहाँतक सम्बन्ध है वहाँतक शक्ति-ही-शक्ति है। कोई भी शक्तिहीनकी उपासना नहीं करता अतः संसारके सम्पूर्ण उपासक सम्प्रदायोंके संत शक्तिका सम्मान करते हैं और उसकी उपासना करते हैं। हाँ, यह सम्भव है और ऐसा ही है कि शक्तिके प्रकारमें भेद हो। विद्या, श्री, सीता, राधा, महाकाली एवं सरस्वती आदि अनेक रूपोंमें शक्तिका स्वीकार किया गया है अतः यह कहा जा सकता है कि सभी संतोंको संतभावकी साधनामें किसी-न-किसी रूपमें शक्तिका आश्रय लेना पड़ा है। इस आदि-शक्तिकी आराधनासे ही अथवा शक्तिविशिष्ट प्रभुकी आराधनासे ही सभीको संतभावकी उपलब्धि हुई है।

सम्पूर्ण जगत् और जगत्‌के सम्पूर्ण भेद राजनीति, समाज, साहित्य, काव्य आदिपर संतोंकी छाप पड़ी हुई है और यहाँकी ऐसी एक भी वस्तु नहीं जो संतोंकी कृपामयी दृष्टिसुधासे सराबोर न हो। वे अनेकों रूपमें निवृत्तिमार्गी, प्रवृत्तिमार्गी, राजा, योगी, गृहस्थ, संन्यासी एवं स्त्री-बालक तथा निम्नकोटिकी जातियोंमें रहकर जगत्‌का कल्याण विधान करते रहे हैं और करते रहेंगे। उनके पवित्र स्मरणसे ही जीवोंका कल्याण साधन होता है।

संतभावकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें और संतोंकी वाणियोंमें दो प्रकार प्राप्त होते हैं, एक तो पुरुषार्थका मार्ग और दूसरा अनुग्रहका मार्ग। पुरुषार्थके मार्गमें अनेकों प्रकारके उपाय करके लोग भगवान्‌से सम्बन्ध स्थापित करते हैं और संतभावकी उपलब्धि करते हैं। इस मार्गमें अष्टाङ्ग, षडंग एवं हठ, लय, मन्त्र आदि योगोंका अनुष्ठान करके अथवा निष्कामकर्मयोगका आश्रय ले करके साधन-राज्यमें अग्रसर होते हैं अथवा तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान आदि पातञ्जलयोग एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि ज्ञानयोगका अनुष्ठान करके अथवा वैधी, रागात्मिका, परा, अपरा आदि विभिन्न प्रकारकी भक्तियोंका आश्रय लेकर अपने लक्ष्यतक पहुँचते हैं। बहुत-से लोग इन सब साधनोंमें अपनेको असमर्थ पाकर अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पण

कर देते हैं और जब-जब ममता, अहंकार आदिका उदय होता है तब-तब बार-बार प्रभुसे यह प्रार्थना करते हैं कि 'प्रभो! अनादिकालसे संसारमें भटकते-भटकते अत्यन्त पीड़ित एवं व्यथित हो गया हूँ; अब संसारमें कहीं सुख-शान्तिके दर्शन न पाकर तुम्हारी शरणमें आया हूँ; अब अबतक मेरे अपने माने हुए शरीर, इन्द्रिय, प्राण एवं अन्तःकरण तथा आत्माको अपना बना लो, मैं तुम्हें समर्पित करता हूँ और स्वयं समर्पित हो जाता हूँ। मेरा जो कुछ है, मैं जो कुछ था, हूँ और होऊँ वह सब तुम्हारे चरणोंमें ही समर्पित है।' इस प्रकारके आत्मनिवेदनके द्वारा अथवा भगवन्नामका आश्रय लेकर नामापराध और नामाभासोंसे बचते हुए लोग भगवान्‌की स्मृतिमें तल्लीन हो जाते हैं और संतभावकी उपलब्धि करते हैं। दूसरा मार्ग है भगवान्‌के अनुग्रहका। भगवान् कब, किसपर, किस प्रकार अपना अनुग्रह प्रकट करते हैं, इसका पता साधारण जीवोंको नहीं चलता। परन्तु सच्ची बात यह है कि भगवान्‌की अनन्त कृपाधाराकी अमृतमयी अनन्त वर्षा निरन्तर हो रही है। हम उनकी कृपासे सराबोर हैं। ऐसा होनेपर भी जबतक हमें अपने बल, पौरुष, शक्तिका घमण्ड है, हम अपने व्यक्तित्वके बलपर हाथ-पैर पीटनेमें लगे हुए हैं तबतक वह अनन्त अनुग्रह हमारे अनुभवमें नहीं आता। चाहे जितनी साधना की जाय पर जबतक हम अपने व्यक्तित्वको सुरक्षित रखते हैं, जबतक हमारा हृदय अहंकारसे रिक्त नहीं है तबतक परमात्माके अनुपम अनुकम्पारसका आस्वादन नहीं कर सकता। हमें एक-न-एक दिन ऐसा होना ही होगा। इस मार्गपर आये बिना कल्याण नहीं। तब सम्पूर्ण साधनों-का उपयोग यही है कि हमारा यह कर्तृत्वाभिमान, अहंकार नष्ट हो जाय और इसके नष्ट होते ही भगवान्‌का अनुग्रह प्रकट हो जाता है। यही इन दोनोंका पारस्परिक सम्बन्ध तथा समन्वय है। और यहीं पहुँचकर वास्तविक संतभावकी उपलब्धि होती है। भगवत्प्रेम, भगवत्कृपा, भगवत्-तत्त्वज्ञान ये सब कृतिसाध्य नहीं हैं। स्वतःसिद्ध हैं, केवल अविश्वास एवं अज्ञानके आवरणभंगकी ही अपेक्षा है।

इस मार्गमें पाँव रखनेवालेके लिये संत सद्गुरुकी महान् आवश्यकता है। परन्तु इस घोर कलिकालमें व्यासजीके कथनानुसार—

न योगी नैव सिद्धो वा न ज्ञानी सत्क्रियो नरः।
कलिदावानलेनाद्य साधनं भस्मताङ्गतम्॥

आज सिद्धसंतोंके दर्शन हम कलियुगी जीवोंको दुर्लभ ही हैं। हम तो केवल भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेकर उन्हींको संत, सद्गुरु, इष्टदेव, साधन, साध्य सम्पूर्ण अपेक्षित रूपोंमें वरण करके अपने कल्याणका साधन कर सकते हैं। भगवान् हमें अपने चरणोंके पास पहुँचनेकी शक्ति दें, आवश्यक समझें तो हमारे पास संत सद्गुरुको भेजें या उनके रूपमें स्वयं आवें। आकर अपनी पहचान बतावें और सर्वदा-के लिये अपना लें। हम अल्पशक्ति, अल्पज्ञ और भूले हुए जीव इससे अधिक और कर ही क्या सकते हैं?

अन्तमें भगवान् और उनकी गुप्त एवं प्रकट लीलामें सम्मिलित गुप्त एवं प्रकट संतोंके चरणकमलोंमें कोटि-कोटि नमस्कार करके अपनी इस अनधिकार चेष्टाके लिये उनकी सहज दयालुताका ही भरोसा करके इस निबन्धको समाप्त किया जाता है।

एक लालसा

एक लालसा मनमहँ धारौं।
बंसीबट, कालिंदी-तट, नट-नागर नित्य निहारौं॥
मुरली-तान मनोहर सुनि-सुनि तन-सुधि सकल बिसारौं।
पल-पल निरखि झलक अँग अंगनि पुलकित तन मन वारौं॥
रिझऊँ स्याम मनाइ गाइ गुन गुंज-माल गर डारौं।
परमानंद भूलि जग सगरौ स्यामहिं स्याम पुकारौं॥

—नन्दजी

मूलगोसाईंचरितकी प्रामाणिकता

(लेखक—श्रीरामदासजी गौड़ एम्० ए०)

१–माननेवाले और विरोधी

अबतककी प्रकाशित पुस्तकोंमें सबसे पहले बेनीमाधवदासके ग्रन्थ गोसाईंचरितकी चर्चा श्रीशिवसिंह सेंगरने 'शिवसिंहसरोज' में की है और उनके लिखनेसे जान पड़ता है कि उन्होंने उस पुस्तकको देखा अवश्य था। नवलकिशोर प्रेसमें निरपवादरूपसे प्रकाशनके समय सभी पोथियोंका संशोधन होता था और संशोधकके कलमसे निश्चय ही सरोज भी बच नहीं सका होगा। इसलिये सरोजकारने कई बातें जो इस तथ्यसे असंगत दी है, उनपर हमें आश्चर्य न होना चाहिये। जैसे, गोस्वामीजीकी जन्मतिथि जो सरोजकारने दी उससे ऐसा भ्रम होता है कि या तो उन्होंने मूल गोसाईंचरित देखा ही न था या जिस पोथीको उन्होंने देखा था, उसमें १५५४ संवत् नहीं था।

सरोजके बाद गोस्वामीजीके अनेक जीवनचरित निकल चुके परन्तु किसीमें उनका जन्म-संवत् १५५४ नहीं दिया गया। फिर भी संवत् १९५७ में प्रकाशित शिवलाल पाठकरचित मानसमयंकमें छपा है—

मन ऊपर शर जानिये शरपर दीन्हें एक।
तुलसी प्रकटे रामवत राम जनमकी टेक॥१३५॥

—जिससे पाठकजीके अनुसार जन्म-संवत् १५५४ ठहरता है। मानसमयंकमें जीवनी नहीं दी है बल्कि मानसके एक चौपाईके अर्थके प्रसंगमें गोस्वामीजीका जन्म-संवत् दे दिया है और यह भी दिखाया है कि गोस्वामीजीने जब रामचरितमानस लिखा तब वह ७८ वर्षके थे।

संवत् १९६९ के ज्येष्ठकी 'मर्यादा' में उसी मानसमयंकके टीकाकार श्रीइन्द्रदेवनारायणसिंहने गोस्वामीजीके जीवनचरितपर लिखते हुए इस दोहेपर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट किया था। परन्तु साथ ही उन्होंने रघुबरदासजीकी लिखी तुलसीचरित नामकी बड़ी भारी पोथीकी चर्चा की थी। जिसमें दी हुई गोस्वामीजीकी जीवनी सबसे विलक्षण है।

संवत् १९८२ में नवलकिशोरप्रेसमें उन्नावके वकील रामकिशोर शुक्लद्वारा सम्पादित रामचरितमानस छपा। ग्रन्थके आरम्भमें बेनीमाधवदासजीका मूलगोसाईंचरित और महात्मा बालकराम विनायकजीकी टीका दी हुई है। श्रीकाशी-नागरी-प्रचारिणी-सभाने इसी मूलगोसाईंचरितको रामचरितमानससे लेकर स्वयं प्रकाशित किया और पत्रिकाद्वारा हिन्दीसंसारका ध्यान इसकी ओर आकृष्ट किया। स्वर्गीय पण्डित श्रीधर पाठकने और मिश्रबन्धुओंने इसकी प्रामाणिकतापर सन्देह किया। परन्तु श्रद्धेय रायबहादुर श्यामसुन्दरदासजीने इसकी दी हुई तिथियोंकी जाँच की और अपना यह निश्चय प्रकट किया कि मूलगोसाईंचरित सर्वथा प्रामाणिक है। कई वर्ष बाद सन् १९३१ में गोस्वामी तुलसीदास नामक ग्रन्थमें, जिसे हिन्दुस्तानी आकेडेमीने प्रकाशित किया, उन्होंने बहुत विस्तारसे उसकी प्रामाणिकता सिद्ध की।

इस प्रकाशनके बाद 'हिन्दुस्तानी' पत्रिकामें जौनपुरके एडवोकेट श्रीमाताप्रसादजी एम० ए०, एल-एल० बी० के कई लेख निकले जिसमें मूलगोसाईंचरितके कई वर्णनोंकी ऐतिहासिक असंगति दिखलायी गयी और प्रकारान्तरसे मूलगोसाईंचरित अप्रामाणिक ठहराया गया।

इधर हालमें पं० रामनरेशजी त्रिपाठीने संवत् १९९२ में रामचरितमानसकी टीका प्रकाशित की। उसकी भूमिकामें त्रिपाठीजीने लगभग बारह बड़े पृष्ठोंमें मूलगोसाईंचरितके तथोक्त असंगत कथनोंको दिखलाकर अन्तमें यों लिखा है—

'इस प्रकार मूलगोसाईंचरित हमें भ्रमपूर्ण और असत्य बातोंसे भरा मिलता है। हम उसे तुलसीदासके जीवनचरितके लिये बिल्कुल ही विश्वासके योग्य नहीं मानते। वह किसी अनधिकारी व्यक्तिका लिखा हुआ जान पड़ता है। सम्भव है, उसका उत्पत्तिस्थान कनकभवन (अयोध्या) ही हो।'

मूलगोसाईंचरितके विरुद्ध इससे अधिक किसीने नहीं कहा है। त्रिपाठीजीका इशारा है कि उसकी रचना कनकभवन अयोध्यामें हुई होगी।

२–मेरी आस्थाका कारण

जिस समय नवलकिशोरप्रेस लखनऊमें मूलगोसाईंचरितवाला रामचरितमानसका संस्करण छप रहा था, लगभग उसी समय मेरी रामचरितमानसकी भूमिका छप रही थी। भूमिकावालोंसे मूलगोसाईंचरितवालोंका कोई सम्बन्ध न

था। भूमिकाके छपनेके कई साल पहले मेरे मित्र स्व० श्रीजगन्मोहन वर्माने मुझे सूचना दी थी कि स्थानीय सरस्वती-भवनमें गोस्वामीजीके हाथकी लिखी वाल्मीकीय रामायणकी पोथी है। मैंने जाकर उसे देखा और उसके कई पृष्ठोंकी फोटो ली। मेरी भूमिकामें ही पहले-पहल उन पृष्ठोंके चित्र छपे। उसके बाद कई पोथियोंमें उसकी नक़लें छपी हैं। परन्तु मेरी भूमिकाके पहले, जहाँतक मुझे ज्ञात है, हिन्दी संसारको उसका पता न था।

उस ग्रन्थकी पुष्पिकामें लिखा है '॥संवत् १६४१ समये मार्ग सुदि ७ रवौ लि० तुलसीदासेन' ॥ इसके साथ ही दूसरे कलमसे लिखा है—

श्रीमच्चेदिलशाहभूमिपसभासभ्येन्दुभूमीसुर-
श्रेणीमण्डनमण्डलीधुरिदयादानादिभाजिप्रभुः ।
वाल्मीकेः कृतिमुत्तमां पुररिपोः पुर्य्यां पुरोगः कृती
दत्तात्रेयसमाह्वयो लिपिकृतेः कर्मिस्त्वमाचीकरत् ॥

इसे देखकर मैंने तरह-तरहके अनुमान उक्त भूमिकामें प्रकट किये थे, परन्तु कोई बात बैठती न थी। जब मैंने सभाद्वारा प्रकाशित मूलगोसाईंचरित पढ़ा तो गुत्थी सुलझ गयी। उसमें पचपनवाँ दोहा इस प्रकार था—

लिखे बाल्मीकी बहुरि इकतालिसके माहिं।
मगसिर सित सतमी रवौ पाठ करन हित ताहिं॥५५॥

उसके बाद २६ पंक्तियोंके बाद अट्ठावनवें और उनसठवें दोहेमें लिखा है—

आदिलसाही राजके भाजक दान बनेत।
दत्तात्रेय सुविप्रवर आये ऋषय निकेत।।५८॥
करि पूजा आसिष लहे मांगे पुन्य प्रसाद।
लिखित बाल्मीकी स्वकर दिये सहित अह्लाद।।५९॥

इन दोहोंसे सरस्वतीभवनवाली पोथीकी पुष्पिकामें दिये हुए अन्तके संस्कृत पद्यका रहस्य खुल जाता है। इन दोहों-को देखकर मुझे मूलगोसाईंचरितकी प्रामाणिकतापर विश्वास हो गया। कई साहित्यरसिकोंने यहाँतक कह डाला था कि यह पुस्तक जाली है और अयोध्याजीमें कई महात्मा कवि हैं, उन्हींकी रचना है। परन्तु ऐसा जाल बनानेमें बहुत दक्ष ज्योतिषी और बड़े अच्छे कविकी ही आवश्यकता नहीं थी बल्कि ऐसे मर्मज्ञ और कल्पनाकुशल चूल-में-चूल भिड़ाने-वाले धूर्तकी आवश्यकता थी, जो प्रबन्धको ठीक रच सके। एक ही दिमागमें इन तीनोंका संयोग मेरी कल्पनामें अब भी नहीं आता और यदि तीनोंका मिला-जुला षड्यन्त्र होता भी तो वह अबतक रहस्यके परदेमें छिपा न रह सकता।

३—और भी जाँच

मूलगोसाईंचरितमें तिथिवारके साथ अनेक घटनाएँ दी हुई हैं। इनकी भी जाँच की गयी। दो-तीनको छोड़ सभी तिथियाँ ठीक उतरती हैं। जहाँ कुछ अन्तर दीखता भी है, वहाँ करणग्रन्थोंके भेदसे अन्तर सम्भव है। इसीलिये हमारे मतसे उनकी तिथियाँ भी ठीक ही हैं। दो-तीन तिथियाँ जो ठीक-ठीक नहीं मिलतीं, इस बातका प्रमाण हैं कि पुस्तक जाली नहीं है। यदि कोई दक्ष ज्योतिषी कल्पित तिथियाँ देता तो किसी एक सारिणीके अनुसार ही देता। ऐसी दशामें जाँचनेपर सभी तिथियाँ ठीक उतरतीं। दो-तीन तिथियोंमें जो दिनोंका अन्तर पड़ता है वह कदापि न पड़ता। आजकल तो मकरन्द और ग्रहलाघवकी चाल है। परन्तु कौन कह सकता है कि साढ़े तीन सौ बरस पहले बनारसमें अथवा अवधके जिलोंमें किस करणग्रन्थके अनुसार पञ्चाङ्ग बनते थे, अथवा बेनीमाधवदासने जो तिथियाँ दी हैं वे किस सारिणीके अनुसार हैं। परन्तु ये दो-तीन तिथियोंके अन्तर स्वयं इस बातके प्रमाण हैं कि मूलगोसाईंचरित जाली नहीं है।

४—मूलगोसाईंचरितकी पुरानी हस्तलिखित पोथी

नवलकिशोरप्रेसने मूलगोसाईंचरितका जो पाठ छापा है वह महात्मा बालकराम विनायककी प्रतिसे लिया गया। श्रीबालकराम विनायकजी उन दिनों कनकभवनमें रहते थे। पण्डित रामनरेश त्रिपाठीका शायद यह अनुमान है कि मूलगोसाईंचरितकी रचना या जालसाजी वहीं कनकभवनमें हुई है। सौभाग्यवश वह पोथी जिसकी नकल उक्त महात्माने कर ली थी अभी मौजूद है।

पण्डित रामधारी पाण्डेय श्रीसाकेतबिहारीशरणजी भरूव नामके एक गाँवमें रहते हैं। यह गाँव परगना मनोरा, औरंगाबाद सबडिविज़न, जिला गयामें है और इसका डाकखाना चन्दा है। मानसपीयूषकार पण्डित शीतलासहायजीके अनुरोधसे श्रीरामधारी पाण्डेयजी अपनी पोथीसमेत संवत् १९८९ की श्रीरामनवमीके अवसरपर मेरे यहाँ कृपाकर पधारे। वह मूलगोसाईंचरितकी पोथीकी पूजा एवं पाठ नित्य करते हैं। अतः पोथी साथ ही लाये थे। मैंने पोथीके अच्छी तरह दर्शन किये। पूरी परीक्षा की। मेरे यहाँ स्वयं डेढ़ दो सौ बरसकी हाथकी लिखी पोथियाँ हैं। उनके कागज, लिखाई और रोशनाई आदिकी परखके अनुसार

पूर्ण निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि पोथी जाली नहीं हो सकती। एक विशेष छपी कापीको लेकर उससे सारा पाठ मिलाया गया। मालूम हुआ कि महात्मा बालकराम विनायकके पाठमें कई जगह लेखप्रमाद था। पूरा संशोधन कर लिया गया। उस पोथीके चार पृष्ठोंका फोटो चित्र लिया गया। उससे हमने ब्लाक बनवा लिये हैं, जो इस लेखके साथ हम देते हैं।

इस पोथीका कागज पुराना मजबूत अरवली है। लिपि सुन्दर और शुद्ध है। पोथी पत्रानुमा है। एक-एक पन्ना साढ़े नव इंच लंबा और साढ़े पाँच इंच चौड़ा है। इसके दो पन्ने खुलते उसी तरह हैं जैसे जिल्द बँधी पुस्तकें। पढ़नेके लिये दोनों पन्ने दहने-बायें खुले हों तो उन्नीस इंच लंबाई और साढ़े पाँच इंच चौड़ाई होती है। लिखे हुए अंशकी लंबाई साढ़े सात इंच और चौड़ाई पौने चार इंच है। पन्नोंकी संख्या २७+१=२८ है, परन्तु पृष्ठोंकी संख्या कुल ५४ है। प्रत्येक पृष्ठमें ११ से १४ तक पंक्तियाँ हैं। २७ पन्नोंमें विषय है। एक पन्नेमें पुस्तकका नाममात्र 'मूलगोसाईंचरित' लिखा है। पुस्तककी पुष्पिकामें लिखा है कि संवत् १८४८ में विजयादशमीको लिखी गयी। उस दिन शुक्रवार था। हिसाबसे भी शुक्रवार ही आता है। पुष्पिका इस प्रकार है।

'इति श्रीवेणीमाधवदासकृत मूलगोसाईंचरित समाप्तम्। श्रीशाण्डिल्यगोत्रोत्पन्नपंक्तिपावन त्रिपाठी रामरक्षमणि रामदासेन तदात्मजेन च लिखितम्। मिति विजयादशमी संवत् १८४८ भृगुवासरे।'

लेखक रामरक्षमणि रामदास त्रिपाठी पण्डित थे और पंक्तिपावनताका उन्हें गर्व था। उन्होंने तथा उनके पुत्रने लिखा। और सचमुच बहुत शुद्ध लिखा। उनके अक्षर भी सुन्दर हैं। इनके स्थानका निर्देश नहीं है कि कहाँके थे, या कहाँ लिखा। परन्तु सरयूपारीण थे और सम्भवतः गोरखपुरके थे। पण्डित रामधारी पाण्डेयके पूज्य पिता पण्डित श्रीकृष्ण पाण्डेयजी अपने लड़कपनसे ही जब पाँच ही बरसके थे तबसे अन्त समयतक वृत्तिके कारण गोरखपुरमें ही रहे। यह पोथी उनके पास थी। वह पाठ भी करते थे और इस पोथीकी पूजा भी करते थे। पण्डित श्रीकृष्ण पाण्डेयजी पचहत्तर बरसकी अवस्थामें, कोई बीस बरस हुए गोरखपुरमें ही वैकुण्ठवासी हुए। मृत्युके पहले उन्होंने अपने पुत्र पण्डित रामधारी पाण्डेयको यह पोथी सौंप दी। तभीसे श्रीरामधारीजी भी उसी तरह पूजा-पाठ करते हैं और सदा अपने [illegible] रखते हैं।

५–किसी अनधिकारी व्यक्तिका लिखा नहीं है

जिस पोथीके चार पृष्ठोंके चित्र हम यहाँ देते हैं वह तो कनकभवनमें उत्पन्न नहीं हुई है! कम-से-कम आजसे डेढ़ सौ बरसोंके भीतरकी रचना भी नहीं है। बेनीमाधवदासकी ही कोई और रचना हमारे सामने नहीं है जिसके मुकाबलेमें इस प्रस्तुत गोसाईंचरितकी परीक्षा इष्ट हो। अतः मूलगोसाईंचरितको जाली ठहराने और कनकभवनमें रचे हुए ग्रन्थ बतानेका दुःसाहस जो त्रिपाठीजीने किया है उसके लिये मेरे निकट कोई हेतु नहीं मिलता।

पोथी जाली नहीं है। इतना ही नहीं, वह किसी अनधिकारी व्यक्तिकी रचना भी नहीं है। उसकी पुष्पिकासे प्रकट है कि वह बेनीमाधवदासकी लिखी हुई है। शिवसिंह सेंगरने लिखा है कि बेनीमाधवदास पसका गाँवके रहनेवाले थे। उन्होंने गोसाईंचरित नामसे गोसाईंजीका एक बड़ा जीवनचरित पद्यबद्ध लिखा था जो अब अप्राप्य है। मूलगोसाईंचरित इसी बड़े ग्रन्थका संक्षिप्त संस्करण है जो पाठ करनेके लिये स्वयं बेनीमाधवदासने रचा था। इस मूलगोसाईंचरितसे इस बातका संकेत मिलता है कि गोसाईंजीसे बेनीमाधवदासकी पहली भेंट संवत् १६०९ और १६१६ के बीचमें हुई थी। सम्भव है इसी समय वे उनके शिष्य भी हुए हों। गोसाईंजी संवत् १६८० में साकेतवासी हुए। अतः बेनीमाधवदास उन्हें ६०-७० बरससे जानते थे। इतने लंबे कालतक जिस लेखकका अपने चरितनायकसे सम्बन्ध रहा, उससे बड़ा अधिकारी लेखक कौन हो सकता है। तुलसीदासजीके जीवनचरितकी सामग्री मूलगोसाईंचरितसे अधिक विश्वसनीय और हो ही नहीं सकती। त्रिपाठीजीके निकट तो वह विश्वासयोग्य नहीं है, परन्तु उनकी या हमारी या अन्य लेखकोंकी अनुमानमूलक कल्पनाएँ क्या मूलगोसाईंचरितसे अधिक विश्वासयोग्य हो सकती हैं? श्रद्धेय रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास लिखते हैं—

'यदि यह मूलचरित प्रामाणिक न हो तो आश्चर्यकी बात होगी।

गोसाईंचरितमें तुलसीदासके जीवनकी जितनी तिथियाँ मिलती हैं सब गणितके अनुसार ठीक उतरती हैं। जिन तिथियोंकी प्रामाणिकताके सम्बन्धमें नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग ७, पृ० ३९५—९८ और ४०१—४०२ में सन्देह प्रकट किया गया था, वे भी पण्डित गोरेलाल तिवारीकी गणनाके अनुसार

श्रीजानकीवल्लभो विजयते॥ अथ मूल गोसाईंचरित प्रारम्भः॥ सोरठा
संतन कहेउ बुझाय मूल चरित पुनि भाखिये। अति संछेप सोहायक
सौं सुनिय नित पाठ हित॥१॥ चरित गोसाइँ उदार बानि सकै नहिं सह
स फनि। हौं मति मंद गँवार किमि बरनौं तुलसी सुजस॥२॥ तोटका
कलि आदि कवी ह्वै ज्ञान निधी। अवतरित भये जनु आपु बिधी॥
सत कोटि बनायेउ राम कथा। तिहुँ लोक मैं बाँटेउ संभु जथा॥ इस खं
डन बेद दसांग सबं। श्रुति मैं बिधि तीनिउ रानि जबं॥ श्रीराम प्रनव
श्रुति तत्त्व परं। निज अंस निजु तन नर देह धरं॥ उमि कीन्ह प्रबंध मुनी
सजथा। हरि कीन्ह चरित्र पवित्र तथा॥ हनुमंत प्रनव प्रिय प्रान सखे
बरतत्व रामै तिसु सीस लखे॥ यहि भाँति परात्पर भाव लिये। सुचि
राम चरित्र बखान किये॥ मुनिराज लखे अद्भुत रचना। कपिराज सौं
कीन्ह परे जंचना॥ पर गुप्त रहस्य है जोउ धरौं। बिनती हमरी न प्रका
स करौं॥ तब अंजनिनंदन स्राप दियो। हँसि कै मुनि धारन सीस कियो।

सो ते बारहों गांव कै चलि दीन्ह॥ दो० दया लागि कर्तव्य गुनि सुमिरे बायुकुमार।
दीन्ह करि सहराघव अनुसुलभ द्विज परिवार॥५३॥ मिथिला ते कासी गये
चालिस संबत त्याग॥ दो० हावलि संग्रह किये सहित बिमल अनुराग॥
५४॥ लिखे बाल्मीकि बहुरि इकतालिस के माहि। मगसर सित सतमी
रवौ पाठ करन हित ताहि॥५५॥ फागुन सित सिय जनम तिथि ब्या
लिस संबत बीच। सतसैया बरनै लगे प्रेम बारि ते सींच॥५६॥ सो०
उनसठ संबत चारि मीन सनी परी कासीपुरी। लोगन है अति दीन जा
इ पुकारे गिरि धिनिकर॥३५॥ त्यागिय नाथ अगोहार अपर बल कछु
न बिसात॥ रा से हरि के दास कि हित जनहार बिधाता॥ दो० करु
नामय मुनि सुनि बिथा तंत्र कबित्त बनाय। करुनानिधि सों बि
नय करि दीन्हों मरी भगाय॥५७॥ कबि केसवदास बड़े रसिया।
घनस्याम सुकुल नभ के बसिया॥ कबि जानि के दरसन हेतु गये।
रहि बाहिर सूचन भेजि दिये॥ मुनि के जु गोसाइँ कहे उतरो॥ कबि

ठीक उतरती है। (ना० प्र० प० भाग ८ पृ० ६०—६९ ।) ......गोसाईंजीने अपने विषयमें विनयपत्रिका, कवितावली, हनुमानबाहुक आदि ग्रन्थोंमें जो-जो बातें लिखी हैं, मूलचरितमें दी हुई घटनाओंसे उनकी भी संगति ठीक बैठ जाती है।'

६—क्या भ्रमपूर्ण और असत्य बातोंसे भरा है?

मूलगोसाईंचरितमें वह सभी बातें मौजूद हैं जिनका अन्तःसाक्ष्य गोस्वामीजीकी रचनाओंसे मिलता है। उन बातोंको यहाँ दोहरानेसे लेखका कलेवर बहुत बढ़ जाता है। उन विषयोंपर सुभीतेसे और लेख लिखे जा सकते हैं। यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि जो बातें अप्राकृतिक मालूम होती हैं, उनके समान बातें भक्तोंकी कथाओंमें संसारकी सभी देशोंके साहित्यमें पायी जाती हैं। जो बातें घटनासम्बन्धी असंगति लिये हुए जान पड़ती हैं, उनकी सत्यताकी परख उन कसौटियोंपर नहीं की जा सकती जिनको अभी इतिहास स्वयं विश्वासयोग्य नहीं ठहरा पाया है। लिखा है कि गोसाईंजीसे चित्सुखाचार्य मिले थे, परन्तु चित्सुखाचार्य कब जन्मे, कहाँ जन्मे इसका ही निश्चय नहीं है। मूलगोसाईं-चरितसे उनके समयका कुछ पता लग जाता है। मीराबाईके देहान्तवर्षके सम्बन्धमें स्वयं झगड़ा है, तो गोस्वामीजीसे उनके पत्रव्यवहारकी बात क्यों सन्दिग्ध मानी जाय? उसीको क्यों न प्रमाण मानकर यह सिद्ध किया जाय कि मीराबाईकी मृत्यु १६२० के लगभग हुई जिससे कि उदयपुरदरबार और भारतेन्दुजीकी बातकी भी पुष्टि होती है? मीराकी ससुरालवालोंके निकट तो मीरा तभी मर गयीं जब उन्होंने गृहस्थी छोड़ वैराग्य लिया। इस प्रकार बेनीमाधवदास जो अपने समयकी बात लिखते हैं, क्यों न स्वयं प्रमाणकी तरह ग्रहण किये जायँ?

बजाय इसके कि हम मूलगोसाईंचरितकी बातोंको इतिहासकी सन्दिग्ध सामग्रीसे परखें, क्यों न हम उस सन्दिग्ध सामग्रीकी ही मूलगोसाईंचरितसे जाँच करें?

श्रीमाताप्रसादजीने बड़े परिश्रमसे मूलगोसाईंचरितकी ऐतिहासिक असंगतियाँ दिखायी हैं, परन्तु जिस-जिस अबतकके उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणोंसे काम लिया है उनकी प्रामाणिकता स्वयं विचारणीय है। ऐसी दशामें त्रिपाठीजीका यह लिखना कि मूलगोसाईंचरित भ्रमपूर्ण और असत्य बातोंसे भरा है, ऐतिहासिक आलोचनाकी विगर्हणा है।

७—बेनीमाधवदासकी सम्भाव्य भूलें

बेनीमाधवदासजी गोसाईंजीके शिष्य थे और श्रद्धालु भक्त थे। सम्भव है कि गुरुके सम्बन्धमें अपने विश्वासके अनुसार कुछ सुनी-सुनायी बातें भी लिखी हों। अच्छे-से-अच्छा लेखक अनेक बातोंमें अपनी स्मृति और धारणापर अत्यधिक विश्वास करके नेकनीयतीके साथ ऐतिहासिक भूलें कर सकता है। मूलगोसाईंचरितमें तिथियोंके देनेमें जो सावधानी बेनीमाधवदासजीने बरती है, उससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बेनीमाधवदासजीने और घटना-ओंके लिखनेमें भी साधारणतया सावधानी बरती होगी। उनके वर्णनका मेल यदि किसी और लेखकसे न मिले तो हमें बेनीमाधवदासपर अविश्वास करनेकी उतावली न करनी चाहिये बल्कि सत्यान्वेषणमें और अधिक प्रवृत्त होना चाहिये।
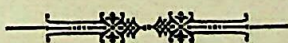
संत-सूरमा

सूर संग्रामको देखि भागै नहीं, देखि भागै सोई सूर नाहीं।
काम औ क्रोध मद लोभसे जूझना, मँडा घमसान तहँ खेत माहीं॥
सील औ साँच संतोष साही भये नाम समसेर तहँ खूब बाजै।
कहै कबीर कोई जूझिहैं सूरमा, कायरा भीड़ तज तुरत भाजै॥

—कबीर

कविके प्रति !

(लेखक—श्रीताराचन्दजी पाँड्या)

कवे ! तेरे शब्दोंमें शक्ति है और तेरे हृदयमें अन्तर्दृष्टि। कवे ! तू अपनी शक्तिका उपयोग नारीजातिके चाम-मांसकी सुन्दरताका वर्णन करके उसे अपमानित करने और भोगकी वस्तु बनानेमें मत करना, वरना तेरी दृष्टि एकांगी और मिथ्या होगी और तू जनताके प्रेमको कलुषित, संकुचित और भ्रमित करनेवाला, सौन्दर्यकी झूठी, आधारहीन और कृत्रिम कल्पना देकर परिणामतः प्रेमको उसीतक सीमित कर देनेवाला होगा !

माता, बहिन, पुत्रीके सम्बन्धमें, यहाँतक कि अपनी स्त्रीके भी सम्बन्धमें जिस वर्णनको करने और सुननेमें साधारण व्यक्तिको भी संकोच होता है उसी वर्णनको, हे कवे ! क्या तू खुले-आम करता फिरेगा और सो भी साहित्य-जैसी पवित्र और हित-भाव-संयुक्त वस्तुके नामपर ?

वसन्त सुन्दर है, मन्द-सुगन्ध मलय-समीर सुखद है, प्रकृतिकी लीलाएँ और उसके दृश्य मनोहर हैं, परन्तु कवे ! इनकी शोभाका वर्णन करते हुए तू इन्हें कलुषित भावोंका उत्तेजक बताकर इनको कलुषित मत कर डालना। लोगोंकी चित्तवृत्ति और उनकी दृष्टि पहलेसे ही काफी कलुषित हो रही है, इसके लिये तेरे उत्तेजनकी आवश्यकता नहीं है। तेरी शक्ति तो इस कालिमाको धोनेमें ही लगनी चाहिये !

कवे ! तू अपनी शक्तिका उपयोग नारीजातिके मातृत्व, भगिनीत्व और सहधर्मिणीत्वके गौरवको प्रदर्शित करनेमें करना, जिससे समाजधारण और दिव्यस्वरूप-की अभिव्यक्तिके सहायक सद्गुणोंका विकास होकर [पुरु]ष-जाति भी उच्च होगी, नारीजाति भी उच्च होगी [समाज भ]ी उच्च होगा।

कवे ! तू अपनी शक्तिका उपयोग जगत्से वैर, भय, ईर्ष्या, हिंसा, स्वार्थ, असत्य, पशुबलि, विषयासक्ति आदिको मिटानेमें, दुःखितों और अपमानितोंको सुखी करनेमें और पतितोंको उच्चतर बनानेमें करना।

कवे ! तू अपनी अन्तर्दृष्टिसे प्रत्येक वस्तुके बाह्य स्वरूपको भेदकर उसके भीतरके सत्य और सौन्दर्यको देखना।

प्रसन्नता, सच्चरित्रता, सेवार्थ किया जानेवाला परिश्रम, सरलता, सुहृद्भाव आदि स्वयं कितने सुन्दर हैं और चित्तको कितना सुन्दर बनानेवाले हैं ? गार्हस्थ्य धर्म-के लिये किये गये शारीरिक परिश्रमसे उत्पन्न ललना-करोंकी कठोरता भी क्या कम सुन्दर है ? विमलात्मा मुनिके शरीरकी मलिनता भी अहिंसा, दैहिक निस्पृहता और आत्मलीनताकी द्योतक होनेपर कितनी सुन्दर होती है ?

कवे ! तू प्रकृति और विकृतिके स्वरूपोंके भेदको पहचान लेना। प्रशंसा करते समय बाह्य स्वरूपसे मोहित होकर उस अन्तरंग सौन्दर्यकी अवहेलना मत कर बैठना, जो कि बाह्य सौन्दर्यका कारण है, उसकी शोभा है और जिसको जाननेकी दुनियाको ज्यादा जरूरत है। मिट्टी मिले हुए स्वर्णमें कौन-सा अंश स्वर्ण है—मिट्टीमें जो चमक है वह मिट्टीकी है या स्वर्णकी—इसे न भूल जाना। तभी तू अन्तर्दृष्टिवाला कहा जा सकेगा।

कवे ! जब तू अच्छी तरह जान जायगा कि जो सत्य है वही शिव और सुन्दर है, जो शिव है वही सत्य और सुन्दर है और जो सत्य और शिवसे पृथक् है वह कभी सुन्दर हो नहीं सकता, तभी तेरी अन्त-र्दृष्टि ठीक कही जा सकेगी।

कवे ! जब तू समझ लेगा कि प्रत्येक वस्तु सत्य, शिव और सुन्दरस्वरूप है और यह जानना और जतलाना, अनुभव करना और कराना ही जीवनका आनन्द है, तभी यह कहा जा सकेगा कि तुझे अन्तर्दृष्टि प्राप्त है, कि जिससे तू कवि बननेयोग्य है ।

कवे ! जब तू अपनी सच्ची अन्तर्दृष्टिके अनुसार अपना जीवन ढालनेके लिये हार्दिक प्रयत्न करेगा, जब तू सब पदार्थोंसे, यहाँतक कि जगमें कहे जानेवाले कुरूपों, पतितों, कोढ़ियों, नीचों, दुखितों और दुःखप्रदोंसे भी निश्छल प्रेमका वर्ताव करने लगेगा तभी तेरी अन्तर्दृष्टि वास्तविक और विश्वासके योग्य होगी । तभी तेरा जीवन कविका जीवन होगा, तभी तू सच्चा कवि होगा । फिर तू चाहे गद्यमें लिखे या पद्यमें या कुछ भी न लिखे न बोले ।

कवे ! यह याद रख कि प्रत्येक बाह्यरूपका यहाँतक कि प्रत्येक भावनाका वर्णन करना कवित्व नहीं है क्योंकि मानवताके लक्षणरूप विवेकका उपयोग हिताहितके लिये प्रत्येक पदार्थके सम्बन्धमें करना होगा । और कवि होनेके लिये देव नहीं तो कम-से-कम मानव होना तो पहले जरूरी है ही । श्रेय और प्रेय कभी-कभी एक-दूसरेसे भिन्न और विपरीत भी होते हैं, इसका खयाल रखना ।

क्या तू यह कहता है कि तू 'स्वान्तःसुखाय' रचना करता है ? तो फिर तू अपनी रचनाको औरोंके सामने क्यों प्रकट करता फिरता है ? और क्या 'स्वान्तःसुखाय' रचना हिताहितके विचारसे शून्य होती है ? एकान्त बंद कोठरीमें बैठकर अपने खुदके लिये कर्म करते हुए भी यहाँतक कि अपने हृदयमें विचार करते हुए भी, क्या विवेकको काममें लाना तेरा मानवोचित कर्तव्य नहीं है ? तेरे विचार निरे विचाररूपमें हानिकर न माने जावें तो भी कार्यमें परिणत होकर क्या वे दूसरोंके प्रति तेरे सम्बन्धोंपर असर न करेंगे ? क्या तेरा अपने खुदके प्रति ही कोई कर्तव्य नहीं है ? क्या 'स्वान्तःसुखाय' में 'स्वान्तःहिताय' की आवश्यकता नहीं है ?

कवे ! तेरा उद्देश्य सत्यको प्रकट करना है, उसकी छाप हृदयपर जमा देना है, इसलिये ऐसी भाषाका प्रयोग करना अच्छा ही है जो आह्लादजनक हो, चित्ताकर्षक हो, अनुप्राणित करनेवाली हो परन्तु यदि ऐसी भाषाका प्रयोग न करे तो इसकी चिन्ता मत कर, क्योंकि सत्य स्वयं सुन्दर है । परन्तु इसका ध्यान अवश्य रख कि तेरी भाषा स्पष्ट हो, दुर्बोध और संशयजनक न हो, सत्यको गूढ़ करनेवाली न हो, उसे छिपा देनेवाली न हो । अलंकारोंका भले ही प्रयोग कर, परन्तु वे सत्यको सुस्पष्ट और सरल करनेवाले हों । ऐसी भाषा जिसके विविध वाञ्छनीय और अवाञ्छनीय अर्थ निकल सकते हों उससे भरसक बच, क्योंकि ऐसी भाषा सत्यको संशयजनक और दुर्बोध बना देनेवाली होती है और उससे जगत्‌की बहुत हानि होती है । तू यह कैसे विश्वास कर सकता है कि तेरी रचनाको योग्य व्यक्ति ही पढ़ेंगे और उसका वाञ्छित ही अर्थ ग्रहण करेंगे ? इसलिये साधारणजनोंको दृष्टिमें रखकर ही लिख, और असलमें उन्हींको तेरी रचनाकी विशेष जरूरत भी है । स्पष्ट भाषाका प्रयोग सलामतीका, वीरताका और निष्कपटताका भी मार्ग है ।

कवे ! तू कीर्तिका दान कर सकता है—उस कीर्तिका जिसके लिये सारा संसार लालायित है और जिसके लिये ही सांसारिक प्राणियोंकी अधिकांश प्रवृत्तियाँ प्रेरित होती हैं । तुझसे प्रशंसित पदार्थों और गुणोंकी ओर संसार सहसा आकृष्ट हो जाता है । अतः अपनी शक्तिकी महत्ता—उसके प्रभाव और परिणामको समझ ।

कवे ! पूर्ण निष्कलंक तो ब्रह्म ही है । उसकी स्तुतिसे सर्व गुणों और सर्व गुणियोंकी स्तुति हो जाती है, क्योंकि वह सर्व गुणोंका शुद्ध और पूर्णरूप है । अतः उसीकी स्तुति कर। परन्तु यदि सांसारिक गुणोंकी भी स्तुति करना चाहे तो लोक-हितका खयाल करके उन्हीं गुणोंकी प्रशंसा कर जिनका लक्ष्य ब्रह्मस्वरूप हो अथवा जो ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये साधनरूप हों ।

सुनीतियुक्त ही वीरता, सच्चारित्र्ययुक्त ही ज्ञान, परोपकारसहित ही शक्ति, सेवा-भाव और उन्नायक प्रेमसहित ही गार्हस्थ्य-जीवन और सद्दानसहित और न्यायोपार्जित ही सम्पत्तिको तू कीर्ति-दान देना, वरना तू अनीति, क्रूरता, आडम्बर, वासना, धनलुब्धता आदिको फैलानेका अपराधी बनेगा ।

कवे ! संक्षेपमें ब्रह्म भी कवि है और तू भी कवि है। अपनी पद-मर्यादाको मत भूलना । जगत्के कल्याणमें, और प्रत्येक प्राणीमें जो दिव्यात्मा है उसे सुविदित, प्रस्फुटित और व्यक्त करानेमें अपनी शक्तियोंका उपयोग करना । तभी तू 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की दृष्टिमें कवि कहलायेगा, वरना काल तुझे खा जायगा क्योंकि काल असत्का, अशिवका और असुन्दरका वैरी है !

और कवे ! एक बात और कहूँ; बस, तू स्वयं भी सत्यं शिवं सुन्दरं बन जा—स्वयं भी ब्रह्मस्वरूप हो जा; यही सच्चा काव्य है और इसकी साधना ही सच्ची काव्य-रचना है ।

इसी प्रकार, जो कविता और कविके लिये कहा गया है वही अन्य सब कलाओं और कलाकारोंके लिये भी है ।

संत-सूरमा

सतगुरु साचा सूरमा, नखसिख मारा पूर।
बाहर घाव न दीसई, भीतर चकनाचूर ॥
सूली ऊपर घर करै, विषका करै अहार।
ताको काल कहा करै जो आठ पहर हुसियार ॥
मरिये तो मरि जाइये छूटि परै जंजार।
ऐसा मरना को मरै दिनमें सौ सौ बार ॥
साध सती औ सूरमा ज्ञानी औ गजदंत।
एते निकसि न बहुरई जो जुग जाहि अनंत ॥
सिर राखे सिर जात है सिर काटे सिर होय।
जैसे बाती दीपकी कटि उँजियारा होय ॥
सीस उतारै भुइँ धरै, तापर राखे पाँव।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव ॥

—कबीर

पाश्चात्य-योगिमण्डल

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए०)

जिस समय महात्मा ईसामसीहका जन्म हुआ था उस समय रोमसाम्राज्यका सूर्य प्रखरतासे देश-देशान्तरोंमें चमक रहा था। परन्तु राजनैतिक उन्नतिके साथ पारमार्थिक अधोगतिका समावेश हो गया था। विलासिताका प्रचण्ड राज्य फैल रहा था और धनियोंका जीवन पाश्चात्य जगत्‌में ऐसा नारकीय हो गया था कि उसका उल्लेख करनेमें लेखनी काँपती है। मदान्ध रोमन शासक मनुष्य-जीवनका मूल्य बिल्कुल भूल गये थे और ईसाके अनुयायियोंके प्रति बड़ा ही कठोर व्यवहार करने लगे थे। उस समय साम्राज्यकी राजधानी रोम नगरीमें अनेकानेक हिंसक जन्तु इसलिये बंद करके रक्खे जाते थे कि ईसाके मतको माननेवाले उनके द्वारा सार्वजनिक तमाशेके रूपमें टुकड़े-टुकड़े किये जायँ। इस लेखके साथ दिये हुए दो चित्रोंसे इस नृशंस पाशविकताका कुछ अनुमान हो सकेगा, पर बड़े गौरवका विषय है कि इस भयानक परिस्थितिमें भी इगनैटियस इत्यादि वीर संतोंने अपने धर्मके सामने अपने प्राणोंकी चिन्ता न की। यही कारण था कि कालान्तरमें ईसाई मतकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। रोमनगरमें नगरके आस-पास पृथ्वीके नीचे बड़ी लंबी-लंबी सुरंगें मिलती हैं। इन सुरंगोंको (Catacombs) कहते हैं। अभीतक छः सौ मीलतक लंबाईमें व्याप्त सुरंगें मिली हैं। इनके भीतरका एक दृश्य इस लेखके साथ दिये हुए एक चित्रमें दिया जाता है। इन गुफाओंके भीतर बहुत-से मुर्दे भी गड़े हुए मिले हैं। कुछ लोगोंका कथन है कि उपर्युक्त रोमनराज्यके अत्याचारसे बचनेके लिये ईसाईलोगोंने इन गुफाओंका निर्माण किया, परन्तु यह विचार कुछ अधिक जँचता नहीं। सम्भव है कि त्रस्त ईसाईलोगोंने इन गुफाओंमें शरण ली हो, परन्तु इसमें बड़ा सन्देह है कि यह गुफाएँ उनके द्वारा बनायी गयीं।

प्रत्येक देशमें अत्यन्त प्राचीन कालसे रहस्यवाद-का अर्थात् गोप्य आत्मवादका प्रचार पाया जाता है। यह बात निर्विवाद है कि अत्यन्त प्राचीन कालमें ग्रीस तथा रोम देशोंमें भी इस आत्मज्ञानरूपी रहस्यवादका प्रचार था। यह विषय बड़ा ही रहस्य-पूर्ण, गम्भीर तथा विस्तृत है। इसका विवरण इस छोटे-से लेखमें नहीं हो सकता। इन स्थानोंपर अनेकानेक चमत्कारपूर्ण बातें होती थीं और भविष्योद्घाटन भी किया जाता था, इसी प्रकार रोम-की इन गुफाओंके भीतर भी रहस्यवादी क्रियाओंका प्रचार होना माना गया है।

ईसाई-धर्मके प्रचारके साथ-साथ इस रहस्यवाद-के लोपकी गति दीखने लगती है। अर्वाचीन ईसाइयोंमें बाह्य रूढ़ियोंका इतना प्राधान्य हो गया कि रहस्यवाद एक प्रकारसे उठ ही नहीं गया किन्तु दण्डनीय बन गया। धीरे-धीरे असहिष्णुता बढ़ने लगी और तेरहवीं शताब्दीमें तो यहाँतक अवस्था हो गयी कि केवल रूढ़ियोंहीको न माननेवाले ईसाई-को मृत्युदण्ड दिया जाने लगा। इस प्रकार दण्ड देनेके लिये (Inquisition) नामक संस्थाका जन्म हुआ। इसके द्वारा कठोर-से-कठोर यन्त्रणाएँ देकर बहुत-से ईसाई मौतके घाट उतारे गये। इनमेंसे अधिकांश तो जीवित भस्म कर दिये गये और शेष बहुत बुरी तरह मारे गये।
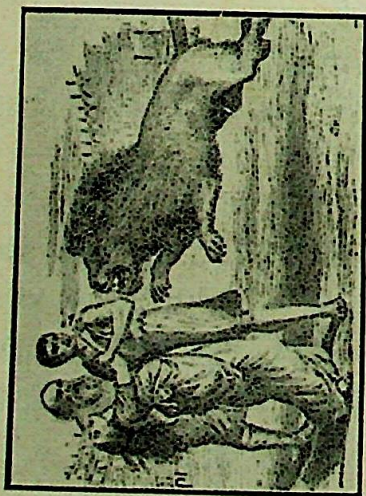
रोमराज्यमें ईसाके मतके माननेवालोंको भीषण प्राणदण्ड । कई दिनका भूखा शेर अभी पिंजड़ेसे छोड़ा गया है । तीनों बलिपशु मनुष्य हैं !
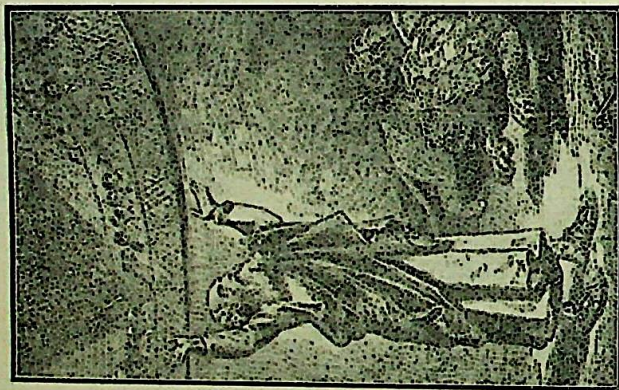
महात्मा इगनैटियसको प्राणदण्ड । इनका जन्म ईसाकी पहली सदीमें हुआ था । इनका अपराध यह था कि इन्होंने राजाज्ञा होनेपर भी धर्मको नहीं छोड़ा । जघन्य दर्शक ऊपर बैठे हैं । वृद्ध साधु परम शान्तियुक्त है । वह हाथ उठाकर यही कहता है 'प्रभो ! इन्होंने जो अज्ञानवश मेरे साथ क्रूरता की है उसके लिये इन्हें क्षमा करना और इन्हें सुबुद्धि देना ।
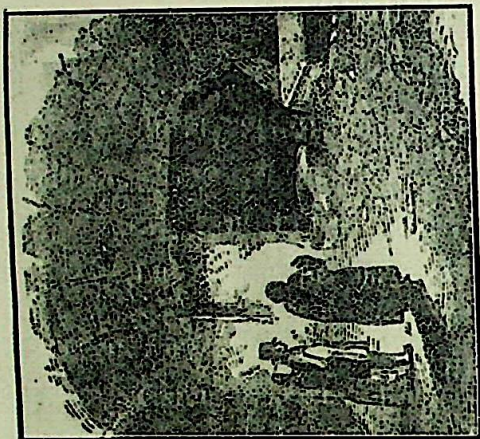
रोमनगरके पास धरातलसे बहुत नीचे ६०० मील विस्तारमें फैली हुई प्राचीन गुफाओंके भीतरका एक दृश्य । कितना विस्तृत स्थान रक्खा गया है और कितनी सुदृढ़ बनावट है !

इन्हीं परिस्थितियोंके कारण रहस्यवाद बिल्कुल लुप्त-सा हो गया। यह केवल यूरोपकी बात कही जाती है। विद्वानोंका मत है कि यथार्थमें रहस्यवादका लोप नहीं हुआ। देशकालकी विषम परिस्थितिके कारण रहस्यवादी महात्मागण जनसाधारण-से अलग छद्मरूपमें रहने लगे। यूरोपके इस प्रकारके मध्ययुगीन रहस्यवादी एक संस्थाका नाम Rosicrucian Society है। कहा जाता है कि इस सम्प्रदायमें गुलाबी रंगके क्रास (जो यथार्थमें अपने प्रणवरूपी स्वस्तिकका ही रूपान्तर है) का ध्यान किया जाता है। इस ध्यानके सम्बन्धमें विशिष्ट रात्रियोंमें जागरणकी तथा विशिष्ट व्रतोंकी व्यवस्था सुनी जाती है। कहा जाता है कि इस सम्प्रदायके महात्मागण अनेक देशोंमें विद्यमान हैं और सामूहिकरूपमें लोगोंको सद्बुद्धि देकर सन्मार्ग-में लगाना ही उनका काम है। यह विचार चाहे यथार्थतः सत्य हों अथवा किसी अंशमें भ्रमपूर्ण हों, किन्तु इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं कि जगत्‌में ऐसी शक्तियाँ विद्यमान हैं जो निरन्तर अनाचार तथा दुष्प्रवृत्तियोंसे जगत्‌की रक्षा अदृश्यरूपमें करती रहती हैं। थियोसाफिकल सोसाइटीके मतमें भी कुछ लोग इस संस्थाके सदस्य हैं। इस संस्थामें पारद इत्यादिके प्रयोग तथा विद्युत्शक्तिके सामर्थ्यकी बातें कही जाती हैं, जिनका सम्बन्ध मध्य-युगीन यूरोपीय कीमियागिरीसे है। "कल्याण" के एक पिछले अंकमें यह बात दिखलायी गयी है कि इस कीमियागिरीका मूलस्रोत भारत ही है। जर्मनीमें भी इस विषयपर बहुत कुछ लिखा गया है। इस लेखकका अनुमान है कि Bulwer Lytton बुलवर लिटन नामक सुप्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासलेखक भी इस संस्थाके सदस्य थे। इनके कई उपन्यास[1] बड़े ही गम्भीर हैं और अत्यन्त रहस्यपूर्ण बातोंको उपन्यासरूपमें समझाते हैं। मेरी समझमें लिटनके इन उपन्यासोंमें इस पाश्चात्य योगिमण्डलके सिद्धान्तों-का बड़ी सरलता तथा दक्षतासे निदर्शन किया गया है। इन बातोंका निष्पक्ष तथा गम्भीर मनन अपने आर्यधर्मकी महान् गम्भीरताका परिचय दिलावेगा और हृदयमें अपने सनातनधर्मके प्रति अत्यधिक आस्तिकताका जन्म देगा।

---

१. बुलवर लिटनके निम्नलिखित उपन्यास विशेषरूपेण द्रष्टव्य हैं:—

1 Arasmanes, or the Seeker.
2 The Coming Race.
3 A Dream of the Dead.
4 The Haunted and the Haunters.
5 The Last Days of Pompeii.
6 The Pilgrims of the Rhine.
7 A Strange Story.
8 The Tale of Kosem Kesamim, the Magician.
9 Zanoni.
10 Zicci.

सुखी जीवन

(लेखिका—बहिन श्रीमैत्रीदेवीजी)

सुमाती—बहिन ! मैं कैसे अपनेको आनन्दरूप जानूँ ? आप ही कोई युक्ति बताओ ।

शान्तिदेवी—हे बहिन ! जिन चीज़ोंकी तुम्हारे चित्तमें चाह होती है, उनके स्वरूपको जानकर उनसे अपनेको बचाये रक्खो, तुमको भूलसे ही उनमें सुन्दरता और सुख भासते हैं । असलमें यह विषयोंकी इच्छा ही जीवकी शत्रु है । पहले कामना होती है, काम पूरा नहीं होता तो क्रोध आता है । कामनाकी पूर्ति होती है तो लोभ और मोह बढ़ जाते हैं । बस, ये काम, क्रोध, लोभ और मोह ही जीवके प्रबल शत्रु हैं, इन्हींके वशमें होनेके कारण अपना आनन्दरूप नज़र नहीं आता । तुम पहले इन शत्रुओंको जीतनेकी कोशिश करो ।

सुनो ! संसारमें जितने प्राणी हैं, सब सुख ही चाहते हैं । सुख मिल जाय, इसलिये ज्यादा-से-ज्यादा सुखकी वस्तुएँ इकट्ठी करते हैं । जितना ही बाहरी वस्तुओंमें सुख दीखता है, उतना ही मनुष्यका लालच बढ़ता जाता है, जितना लालच बढ़ता है, उतनी ही परेशानी बढ़ती जाती है, मौजूदा सुख उसे सुखी नहीं बनाते बल्कि उलटे दुखी करते रहते हैं और अन्तमें पहले सुखोंसे भी उसे हाथ धोने पड़ते हैं । असल बात यह है कि परमात्माको या आत्माको छोड़कर बाहरकी वस्तुओंमें जो सुख प्रतीत हो रहा है वह सुख उन वस्तुओंमें नहीं है, वह तो तुम्हारे आत्मसुखकी ही परछाईं मात्र है । उनमें सुख देखना ही गलती है । इसी गलतीके कारण जीव बार-बार दुखी होता है । हे बहिन ! तुम्हीं बताओ, जैसी दुःखदायी दुनिया तुम्हें इस समय जान पड़ती है, क्या विवाहके [illegible] भी ऐसी जान पड़ती थी ?

सुमाती—नहीं बहिन ! उस समय तो जान पड़ता था कि संसार सुखसे परिपूर्ण है, किन्तु मेरा वह सुखका सपना बहुत जल्दी भङ्ग हो गया !

शान्तिदेवी—ठीक है जबतक मनुष्योंकी सांसारिक इच्छाएँ पूरी होती रहती हैं तबतक उनको सुख प्रतीत होता है । किन्तु है यह भूल ! इच्छापूर्तिकी वस्तुओंमें सुख है ही नहीं, सुख तो उस इच्छापूर्तिके समय स्थिरचित्तमें भासित होनेवाले अपने आत्मामें है । तुम यदि सच्चा आनन्द और सदा रहनेवाला सुख चाहती हो तो थोड़ी-बहुत साधना किया करो !

देखो बहिन ! सत्-चेतन-आनन्दघनका प्रतिबिम्ब अन्तःकरणपर पड़ता है, वह अन्तःकरणरूपी शीशा मैला हो रहा है । हे सुमति ! जैसे शीशा मैला होनेपर उसमें मुँह नहीं दीखता, वैसे ही अन्तःकरणके मलिन होनेसे निज आनन्दका भी अनुभव नहीं होता । जिसे संसारमें सुख नज़र न आता हो, और दुनियाके भोगोंमें वैराग्य-सा हो गया हो, वह भाग्यवान् ही है । उसे चाहिये, अपने चित्तको फिर विषय-भोगोंकी ओर जाने ही न दे । चित्तको निरन्तर ईश्वर-चिन्तन और भगवान्‌के नामजपमें लगाये रक्खे । इस प्रकार जो रात-दिन अभ्यास करता है, दुनियाको असत् और शरीरको नाशवान् जानता है तथा आत्माको सदा रहनेवाला और अविनाशी समझता है वह एक दिन निज आनन्दका अनुभव जरूर कर लेता है ।

सुमाती—बहिन ! मैं जानती हूँ कि शरीर नाशवान् है और इन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाले भोग विनाशी हैं

और सदा सुख देनेवाले नहीं हैं; परन्तु मन तो सदा उन्हीं भोगोंके लिये लालायित रहता है। क्या करूँ?

शान्तिदेवी—'ठीक है। इन्द्रियोंका स्वभाव विषयोंकी ओर जाना ही है, किन्तु परमात्माने इन इन्द्रियोंसे ऊपर मन और उससे भी ऊपर हमें बुद्धि दी है। तुम शुद्ध बुद्धिसे अवश्य ही इन्द्रियोंको जीत सकोगी। बुद्धिको शुद्ध और चित्तको निर्मल बनानेके लिये नित्य ईश्वरसे प्रार्थना किया करो। वह सर्वान्तर्यामी सब कुछ करनेमें समर्थ हैं।'

इतना सुनते ही सुमतिकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह रोती हुई कातरस्वरसे इस प्रकार प्रार्थना करने लगी—

हे मेरे भगवन्! अपनी दयासे,
अपनाके अब तो अपनी बना लो।
करके दया हे समुन्दर दयाके!
हस्तीमें अपनी मुझको मिला लो॥ टेक॥
विपतोंसे प्रभुजी! मुझको उबारो,
अज्ञानके इस सागरसे तारो।
ममतासे जगकी मुझको बचाकर,
अपनी ही प्रेमिन प्रियतम! बना लो॥ १॥
इच्छा विषयकी मनसे मिटा दो,
हृदयसे परदा तमका हटा दो।
बस, ज्योती अपनी जगमग जगाकर,
जीवनको मेरे उज्ज्वल बना लो॥ २॥
हरि! तत्त्व अपना मुझको बता दो,
सब ज्ञान भगवन्! अपना जता दो।
मुरली सुनाकर मुखड़ा दिखाकर,
चरणोंकी अपनी चेरी बना लो॥ ३॥
बल निजी कृपाका मुझको दिला दो,
भक्तोंसे अपने मुझको मिला दो।
सुमिरनमें 'दासी' का मन लगाकर,
आवागमनसे जल्दी छुड़ा लो॥ ४॥

यह प्रार्थना सुमतिने ऐसे करुणाभरे शब्दोंमें गायी कि शान्तिदेवीके भी रोम खड़े हो गये। उसने दोनों हाथोंसे पकड़कर सुमतिको अपने हृदयसे चिपटा लिया—अपना कोमल और शीतल हाथ सुमतिके सिरपर धर वह इस प्रकार मधुर वचन बोली—

हे बहिन! दयामय भगवान् सच्चिदानन्दसे इसी प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये। साथ ही भगवान्‌को दी हुई शक्तिसे स्वयं भी मनकी निगरानी करते रहना चाहिये। मन बन्दरकी तरह महान् चञ्चल है। एक जगह स्थिर होकर नहीं रहता। जैसे बन्दर कभी इस डालपर कभी उस डालपर छलाँग मारता फिरता है इसी प्रकार मन भी पल-पलमें कभी किसी विषयकी ओर तो कभी किसी ओर दौड़ता फिरता है। और जिसका मन विषयोंमें फँसा है बस वही दुखी है, इस मनको विषयोंकी ओरसे रोका करो और इसे आनन्दस्वरूपके चिन्तनमें लगाया करो।

सुमति—इस मनको विषयोंसे किस प्रकार रोकूँ? मनको रोकना मैं तो अत्यन्त कठिन समझती हूँ। आपके उपदेशसे मैंने यह समझ तो लिया कि इस मनने ही मुझे आनन्दपदसे हटाकर दूर-से-दूर ला पटका है और यह मन लोभ-मोहका जाल बिछाकर विषय-कामनाओंमें फँसा नाना प्रकारके दुःख भुगता रहा है। वैराग्य, विचार, धैर्य और सन्तोषकी ओर मन दृढ़ होकर नहीं लगता। सदा विषयोंके चिन्तनमें ही लगा रहता है, कुत्तेकी तरह सदा भटका करता है। विषयोंको सुखरूप जानकर भोगने जाता है, परन्तु कभी-कभी सुख थोड़ा और दुःख बहुत जानकर उनकी ओर फिर न जानेकी प्रतिज्ञा भी करता है, किन्तु तनिक-सी देरमें ही प्रतिज्ञा भूलकर फिर उन्हींमें रम जाता है। जब देखो तभी यह विषयोंमें ही सुख पाता है। हे बहिन! मनकी इस इच्छाने ही मुझे बड़ा दुखी बना रक्खा है, कब मैं इस इच्छाको जीतकर स्वतन्त्र हो सकूँगी?

शान्तिदेवी—जिस विषयको मनुष्य चाहता उसके मिलनेपर एक बार तो सुख और [illegible]

दिखलायी देती है परन्तु वह ठहरती नहीं, तुरंत ही नष्ट हो जाती है और फिर शान्तिके बजाय तृष्णा और भी बढ़ जाती है। इसलिये भोगोंकी प्राप्तिमें कभी सुख-शान्ति हो ही नहीं सकती, बुद्धिमान् मनुष्यको तो भोगोंकी इच्छासे ही चित्तको हटानेकी कोशिश करनी चाहिये।

हे बहिन! खूब जान लो, यह मन जिस तरफ लग जाता है उसीका रूप बन जाता है। मनुष्य जब क्षण-क्षणमें बदलनेवाली, नाशवान् संसारी चीज़ोंका चिन्तन करता है तब वैसा ही बनकर दुखी-सुखी अपनेको मानता है, और जब यही मन आत्मचिन्तन करता है तब नित्य अखण्ड आनन्दरूप आत्माकार बनकर सुख-दुःखसे रहित केवल अनिर्वचनीय आनन्दका ही अनुभव करता है, इसलिये तुम भी अब अपने चित्तको विषयचिन्तनसे हटाकर केवल आत्मचिन्तनमें लगानेका अभ्यास करो। इससे सुखी हो जाओगी।

सुमति—क्या ऐसा हो सकता है कि हमारा मन संसारसे उपराम होकर आत्मामें ही स्थित हो जाय?

शान्तिदेवी—हाँ-हाँ! हो तो सकता ही है। जब हमें मनुष्यजीवन मिला तभी इसके साथ संकल्प-शक्ति भी मिली थी, अब यह अपने ही हाथकी बात है कि उस शक्तिको बढ़ाकर हम आत्माकी ओर लगा दें या दबाकर उसे विषयोंके गड्ढेमें गिरा दें। जो मनुष्य यह समझते हैं कि 'संसारी काम ज़रूरी हैं, यहाँके भोग भोगनेको ही हम इस संसारमें आये हैं, इसीलिये हमारा जन्म हुआ है, ईश्वर-भजन, ईश्वर-चिन्तन तो जब [illegible] होंगे तब कर लेंगे' वे अज्ञानमें हैं, मायाके [illegible] फँसे हैं। भला देखो बहिन! किसीको [illegible] कि किस समय शरीर छूट जाय। शरीर [illegible] छूटनेके वक्त जहाँ मन होता है वैसा ही आगेका जन्म होता है और शरीर छूटनेके वक्त मनमें वही संकल्प और इच्छाएँ होती हैं, जिनके अनुसार हमने जीवन-भर काम किया है इसलिये बुढ़ापेकी बाट न देखकर शुरूसे ही, जबसे यह बात समझमें आ जाय, तभीसे ईश्वर-चिन्तन करने लगना चाहिये। इसीमें मनुष्यकी अक़्लमन्दी है।

आजकल बहुत-से नास्तिक जीव कहा करते हैं, 'संसारमें आकर संसारके काम किये बिना, विषयोंको भोगे बिना अथवा व्यभिचारादि पाप कर्म किये बिना काम ही नहीं चल सकता।' इस मोहसे पैदा होनेवाले पापके संकल्पने ही जीवोंके चित्तको मलिन और धर्मसे विमुख कर दिया है। बड़े शोककी बात है, पशुधर्म ही नहीं, पशुओंके भी अयोग्य बुरे कर्मोंको आजकलके मोहमें फँसे हुए मनुष्य कर्त्तव्य बतलाने लगे हैं। हे सुमति! तुम इस भ्रममें भूलकर भी कभी मत पड़ जाना। तुम्हारे अंदर बेशक़ीमती जवाहिरातोंसे भी बहुत बढ़कर ज़्यादा कीमती जौहर मौजूद है, तुम उस शक्तिको जानो और अपने विचारोंको उत्तम बनाकर पवित्र जीवन बिताओ। जो मनुष्य अपने जीवनको ब्रह्मचर्यमें बिताता है, वह पुरुषार्थसे विचारवान् और महान् सहनशक्तिवाला बन जाता है। हे सुमति! तुम भी सदा ब्रह्ममें मन रखनेका अभ्यास करो और अपने पाप-तापसे रहित शुद्ध रूपको पहचाननेके लिये विचार और जतन किया करो। ऐसा करोगी तो तुम भी पारस बन जाओगी। पुण्यकर्मसे मिले हुए इस दुर्लभ मनुष्यजीवनको—जो अनमोल रत्न है—दुःख देनेवाली और कल्याणसे हटानेवाली संसारी इच्छाओंमें मत गँवाओ। चेतो! चेतो!! हे सुमति! समय गुज़रा जाता है। कालको तो तुम सर्वथा ही भूल बैठी हो। सोचो तो, भला क्या सदा तुम्हें इसी संसारमें ही रहना है या यहाँसे जाना भी है?

सुमति—बहिन ! जो पैदा हुआ है वह तो अवश्य मरेगा ही, यह तो मुझे निश्चय है ।

शान्तिदेवी—बस, तो फिर संसारको मृत्युके मुखमें पड़ा देखकर यहाँके भोगोंसे चित्तको हटा कर, परमात्माका सुमिरन करो, मनको सदा शुद्ध संकल्पोंसे भरनेकी चेष्टा करो, जैसे संकल्प जीवनमें बनाये रक्खोगी, वैसा ही परिणाम भी देखोगी। देखो—

अन्धे, कोढ़ी, लँगड़े, अपाहिज, ग़रीब और दीन जो यहाँ तुम्हें दीखते हैं, उनकी यह दशा उनके अपने ही पहले किये हुए कर्मोंका परिणाम है । हम जैसा कार्य करते हैं वैसा ही फल पाते हैं । दूसरी तरफ़ देखो—अमीर, वज़ीर, राजा, साहूकार, जो नाना प्रकारके भोग भोग रहे हैं यह भी इन्हींके शुभ कर्मोंका नतीजा है । परन्तु यह भी नाशवान् ही है । मनुष्यजीवनका फल तो उस आनन्दको पाना है जो अखण्ड है, नित्य है, पूर्ण है, अविनाशी है । उसीके लिये चेष्टा करो ।

शुभ संकल्प और शुभ विचार ही शुभ कर्म करवाकर हमें महान् बना देते हैं । जो अशुभ संकल्प करते हैं उनके काम भी अशुभ होने लगते हैं, इन्हीं अशुभ कर्मोंके परिणाममें मनुष्ययोनि छोड़कर जीव पशु आदि योनियोंको जाते हैं । हे सुमति ! अपनी शुद्ध और निश्चयरूपा संकल्पशक्तिसे ही उस परमतत्त्वको तुम पा सकोगी जिस आत्मतत्त्वको मैं तुम्हें बताना चाहती हूँ । जब तुम विषयोंके संकल्प छोड़कर एक-मात्र आत्मतत्त्वका ही विचार करने लगोगी तब तुम्हारे अंदर वह पूर्ण शक्ति जागृत हो जायगी, फिर कोई भी शक्ति तुम्हारे लक्ष्यको न हटा सकेगी । अतएव अब तुम अपनी चारों तरफ़ बिखरी हुई वृत्तियोंको समेटकर केवल आत्मचिन्तनमें ही लगा दो ।

बहिन सुमति ! विषयभोग तो सभी योनियोंमें मिलते रहे हैं परन्तु आत्मचिन्तन तो सिवा मनुष्य-जीवनके और किसी भी जीवनमें न कर सकोगी । इस बातको समझकर अबसे तुम किसी विषयका चिन्तन मत किया करो । स्वाभाविक प्रारब्धकर्मा-नुसार आनेवाले भोगोंको बिना रागके भोगा करो, ईश्वरार्पणबुद्धिसे सब काम किया करो, कर्म भी ऐसे हों, जिससे दूसरोंका उपकार हुआ करे । ऐसा करनेसे धीरे-धीरे अहंकारका नाश हो जायगा और तुम परम शान्तिको पा सकोगी। देखो गुरु नानक-देव क्या कहते हैं ।

नानक दुखिया सब संसारा । सुखिया सो जो नाम-अधारा ॥

प्रेम-भक्ति-सहित जो प्रभुके नामका जाप करता है वह सारे दुःखोंसे छूट जाता है । जिस समय मनुष्यके चित्तमें सच्ची भक्ति जाग्रत हो जाती है उस समय उसके सब काम निष्काम होने लगते हैं और उसे कोई दुःख-परेशानी नहीं रहती । वह मनुष्य हर एक कामको ईश्वरकी आज्ञा मानकर ईश्वरार्थ करता है और परमात्माको सर्वव्यापक जानता है, इस कारण वह जीवमात्रकी सेवाको ईश्वर-सेवा ही मानता है । इस प्रकार जगत्‌भरमें ईश्वरको परिपूर्ण देखकर जो संसारमें सेवाके भावसे कर्म करता है उसका जीवन सुखमय हो जाता है । तुम्हें एक कहानी सुनाती हूँ मन लगाकर सुनो—

(शेष आ[illegible]

तुलसीकृत रामायणमें करुण-रस

[चैत्र १९९३ (अप्रैल ३७) से आगे]

(लेखक—श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा, एम० ए०, एल-एल० बी०)

भरतकी महानताका मापदण्ड

हम देख चुके हैं कि भरतके ननिहालसे लौटनेपर राजसभाका जो अधिवेशन हुआ और जिसमें राज्य-स्वीकृतिका प्रस्ताव पेश हुआ था, उसमें भरतके भाव एवं वक्तृत्व-शक्ति दोनोंकी ही विजय हुई थी। क्या महाराज वशिष्ठ, क्या मन्त्रीगण, क्या पुरवासी और क्या माता कौसल्या, सभी भरतके कोमल तथा सकरुण आघातोंसे पराजित हो गये थे। भरतके तीव्र मस्तिष्क और सूक्ष्म एवं शुद्ध भावोंने उन्हें उपर्युक्त सभी व्यक्तियोंसे ऊपर उठा दिया था।

अब हम इस बातपर विचार करेंगे कि चित्रकूटकी सभाओंपर भरतका क्या प्रभाव पड़ा और साथ ही यह भी देखेंगे कि भरतके प्रति उनके समकालीन महानुभावोंके क्या विचार थे। हैमलेटके चरित्रका ठीक अध्ययन करनेके लिये बड़े-बड़े साहित्यमर्मज्ञोंने इस शैलीको स्वीकार किया है कि हम इस बातपर विचार करें कि हैमलेटके प्रति अन्य नाटकीय पात्रोंके भाव और विचार क्या थे। आज हम भरतके चरित्र-अध्ययनमें भी उसी शैलीका अनुकरण करने जा रहे हैं। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार वह निषाद जो पहले भरतसे सशंक हो लड़नेके लिये तैयार था, भरतके शुद्ध राम-प्रेमके कारण उनका मित्र और भक्त बन गया। जब लक्ष्मणने चित्रकूटमें यह सुना कि भरत अपनी चतुरंगिनी सेनाके साथ आ रहे हैं तो उनका वीर और नीतिनिपुण हृदय क्रोधसे क्षुब्ध हो उठा। राजनैतिक दृष्टिकोणसे लक्ष्मणका यह तर्क ठीक ही था कि रामके वनवासकी अवस्थामें होते हुए यदि भरतके विचार शुद्ध होते तो 'केहि सुहात रथबाजिगजाली'? अपने माखको न्याय्य प्रमाणित करनेके लिये लक्ष्मणने ठीक कहा था कि 'लातहु मारे चढ़त सिर नीच को धूरि समान'। हम की सारी वक्तृता ऐसी ओजस्विनी है कि उसे सर्वथा हुआ ते ही बनता है। नीतिसे माखकी अवस्थामें पहुँचना ... नाखका रोषमें परिणत होना कविने बड़ी ही सुन्दरतासे दुनि [illegible]या है और जैसा मैं बहुधा कह चुका हूँ कि तुलसी- [illegible] स्वयं ही अपने सर्वोत्तम आलोचक हैं, उन्होंने उस [illegible]के चढ़ावको प्रकट करते हुए यह कहा है कि लक्ष्मणको 'नीतिरस' भूल गया और उनके 'रन-रस-बिटप फूल जिमि फूला'। लक्ष्मणके रोषकी पराकाष्ठा उनकी वक्तृताके लगभग अन्तमें इन शब्दोंसे प्रकट होती है—

> आजु राम-सेवक फल लेऊँ। भरतहिं समर सिखावन देऊँ॥
> जौं सहाय करु संकर आई। तदपि हतौं रन रामदुहाई॥

धरा काँपने लगती है और हमारे सामने गृहकलहकी सम्भावनाका भयानक चित्र आ जाता है। इसीलिये मेरी धारणा है कि भरतकी महानताकी सबसे बड़ी माप यही है कि उन्होंने परिस्थितिको एक पूरे युगके लिये सुधार दिया। नहीं तो महाभारतका युद्ध कुरुक्षेत्रके बजाय चित्रकूटमें होता या अयोध्यामें। अब हमें पहले-पहल यह पता लगता है कि राजनैतिक दृष्टिकोणसे भी भरतका चित्रकूट-गमन जनता, निषाद और लक्ष्मणकी शङ्काओंके समाधानके लिये कितना आवश्यक था। इस दृष्टिकोणसे देखते हुए जब हम महाराज वशिष्ठके इस प्रस्तावकी, कि भरत राज स्वीकार करें और चौदह वर्ष पश्चात् रामके लौटनेपर उन्हें वापस कर दें, तुलना भरतके इस संशोधनसे करते हैं कि तुरत ही चित्रकूट चलकर रामाज्ञाके अनुसार ही काम किया जाय, तो हमें भरतकी महानताका सम्यक् अनुभव होता है। चौदह वर्षोंमें तो न जाने कितने कुतर्क उत्पन्न होते और निषादोंकी क्रान्ति-जैसे न जाने कितने विरोधी आन्दोलन उठते। और क्या तअज्जुब कि चौदह वर्षोंके राज्य-भोगके पश्चात् स्वयं भरतके विचार भी कुछ और ही होते। ऐसी ही सम्भावनाओंको प्रतीत करते हुए भरतजी गुरु वशिष्ठके प्रस्तावका विरोध करते हैं और राज्यको अपने लिये वारुणी बताते हुए कहते हैं कि—

> ग्रहग्रहीत पुनि बातबस तेहि पुनि बीछी मार।
> तेहि पियाइअ बारुनी कहौ कवन उपचार॥

कुछ ऐसी ही सम्भावनाओंका संकेत मन्त्रि-मण्डलके उस दुमापीपनमें भी मिलता है कि उसने गुरु वशिष्ठके प्रस्तावके उस अंशको तो स्वीकृत किया जिसमें भरतसे राज्य-स्वीकृतिका अनुरोध था पर चौदह वर्ष बाद राज्यके लौटानेवाले अंशको यह कहकर टाल दिया कि उस समय जैसा उचित होगा किया जायगा। भरत इन सब बातोंको पहले ही

ताड़ चुके थे और इसीलिये उन्होंने भगवान् रामसे अवलम्बनरूपमें चरण-पादुका माँग लीं थीं। राम स्वयं न लौटे परन्तु उनकी चरण-पादुकाओंकी स्थापनासे प्रतीकरूपमें तो राम-राज्य प्रस्थापित हो ही गया। प्रलोभनसे दूर तरह बचनेके लिये भरत तपस्वी बनकर नन्दिग्राममें रहते हुए केवल प्रतिनिधिरूपमें शासन करते रहे। इसी कारण गुरु वशिष्ठने भरतके इस कामकी तारीफ़ बड़े जोरोंके साथ की है और हमें भी भरतके इस तपस्वी आचरणमें उनके आदर्शवाद और उनकी स्वाभाविक धर्मपरायणताकी पराकाष्ठा दिखायी देती है। यहीं एक बात और, महाकवि शेक्सपियरने भी हैमलेटमें उसके चचाके पश्चात्तापका एक छोटा-सा दृश्य दिखाया है और वहाँपर एक बड़े मर्मकी बात कही है। हैमलेटका चचा पश्चात्तापसे पापके प्रायश्चित्तकी सम्भावनाका अनुभव करता है परन्तु बड़े शोकके साथ इस बातको मानता है कि पापसे मिली हुई सम्पत्तिके त्याग बिना पश्चात्तापकी सफलता असम्भव है। इस घटनासे भरतके तप एवं त्यागपूर्ण आचरणपर कितना सुन्दर प्रकाश पड़ता है और यह प्रमाणित होता है कि भरतका वह आचरण ही आध्यात्मिक दृष्टिसे श्रेयस्कर था। लक्ष्मणके उपरिलिखित कठोर शब्दोंका विरोध करते हुए रामने जिस ज़ोरके साथ भरतके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है; उससे भी भरतकी असीम महानताका प्रकटीकरण होता है—

भरतहि होइ न राजमदु बिधि-हरि-हर-पद पाइ।
कबहुँ कि काँजीसीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥

देवगण भी भगवान् रामके विचारोंकी पुष्टि ही करते हैं—

सुनि रघुबर बानी बिबुध देखि भरतपर हेतु।
लगे सराहन सहसमुख प्रभु को कृपानिकेतु॥

जौ न हो त जग जनम भरतको। सकल धरम-धुर धरनि धरत को॥
कबि-कुल-अगम भरत-गुन गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा॥

माता कौसल्या तो अयोध्यामें ही भरतको निर्दोष ठहरा चुकी हैं—

भये ग्यान बरु मिटइ न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार यह जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुखु सुगति न लहहीं॥

माता कौसल्याके प्रेमकी दशाका वर्णन जिन शब्दोंमें है उनके जोड़के शब्दोंका मिलना संसारके किसी भी साहित्यमें सम्भव नहीं। शब्द कितने सरल हैं और चित्र कितना भावपूर्ण है—

अस कहि मातु भरतु हिय लाये। थन पै स्रवहिं नयन जल छाये॥

चित्रकूटमें रानी सुनैनासे बातचीत करते हुए कौसल्याजीने महाराज दशरथकी उस धारणाका जिक्र किया है जिसमें स्वर्गीय राजा भरतको ही 'कुलदीप' बताया करते थे। यथार्थ तो यह है कि आर्यसभ्यताके लिये भी भरतजी 'कुलदीप' ही रूप हैं। संसारमें आदर्शवादकी सफलताका चित्र उन्हींकी बदौलत जीवित है। माता कौसल्या भरतके चरित्रके समस्त मर्मोंको जानती थीं और उनके आदर्शपूर्ण गूढ़ स्नेहका अनुभव उन्हें इस कदर था कि उनके हृदयमें रामके वनवासका इतना खयाल न था जितना रामके वियोगमें भरतके हृदयकी दशाका—

....

गहबर हिय कह कौसिला मोहि भरत कर सोच।

इसी कारण कौसल्याजीने रानी सुनैनाद्वारा जो विनय जनकसे की है उसमें रामके लौटानेपर इतना ज़ोर नहीं, जितना इस बातपर कि भरत भी रामके साथ जायँ। क्योंकि वह समझती थीं कि भरतका प्रेम इतना अगाध है कि वह वियोगदुःख सहन न कर सकेंगे और इसीलिये उन्होंने कहा है कि—

रहे नीक मोहि लागत नाहीं।

परन्तु जब महाराज जनकसे यह सन्देश कहा गया कि वह भरतपर अपना प्रभाव डालें और वनवासकी गूढ़ समस्याओंके सुलझानेका प्रयत्न करें तो उन्होंने भरतकी महानताका इक़रार जिन शब्दोंमें किया है वे विचारणीय हैं—

धर्म राजनय ब्रह्मबिचारू। यहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोर भरत महिमाहीं। कहहि काह छलु छुवत न छाहीं॥

हम जानते हैं कि महाराज जनक ऐसे प्रतिष्ठित कर्मयोगी थे कि जिनका उदाहरण भगवान् श्रीकृष्णने अपनी गीतामें दिया है और जिन्होंने संसारमें भोग और योगका एकीकरण अनुपम रीतिपर कर दिखाया था। उधर महाराज वशिष्ठ भी योगवाशिष्ठके निर्माता और कर्मयोगके भाण्डार ही थे। [illegible] इन दोनों महान् व्यक्तियोंने भरतकी महिमा स्वीकार कर[illegible] तो फिर किसी औरका कहना ही क्या ? हम भरतके [illegible] और 'राजनय' को उनकी अनेक वक्तृताओंमें देख चु[illegible] परन्तु यहाँ स्पष्ट शब्दोंमें महाराज जनक भरतकी महि[illegible] 'ब्रह्मविचार'से भी ऊपर बताते हैं। कारण बड़ा ही [illegible] सुन्दर है। ब्रह्म सत्य है और जहाँ [illegible]

हो वह स्थान उससे नीचे ही है। हम देख चुके हैं कि सत्य और असत्यके मार्मिक अन्तरकी पहचानमें भरत गुरु वशिष्ठसे आगे बढ़ गये हैं और आगे हम यह भी देखेंगे कि चित्रकूटके प्रस्तावोंमें भरतके हृदयस्थ महिमाकी थाह वशिष्ठ और जनक दोनों ही न पा सके। इस दृष्टिकोणसे ब्रह्म (सत्य) विचारमें भी भरतकी महिमा अतुलनीय है—चाहे उसमें तार्किक वाद-विवाद न हो। चित्रकूटमें जिस समय वशिष्ठजीने भरतके सामने यह प्रस्ताव रक्खा कि—

सकुचहुँ तात कहत इक बाता। अर्ध तजहिं बुध सरबस जाता॥
तुम कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिय लषन सीय रघुराई॥

तो भरतका प्रेम इस कसौटीपर भी खरा उतरता है। उनके आनन्दकी सीमा नहीं रहती, जिसके वर्णनमें तुलसीदासजी कहते हैं—

………हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद परिपूरण गाता॥

और भरतजी बोल उठते हैं—

कहहिं भरत मुनि कहा सो कीन्हें। फलु जगजीवन अभिमत दीन्हें॥

भरतके शब्दोंमें कितनी स्वाभाविकता है मानो उनके आदर्शवादरूपी दिशासूचक यन्त्रकी सुई अपने लक्ष्यपर पहुँच गयी। इसीलिये तो वह गुरु वशिष्ठके प्रस्तावमें 'जगजीवन' का फल देखते हैं! गुरुजीपर इस स्वीकृतिका जो असर हुआ वह अकथनीय है। वह न समझे थे कि भरतका प्रेम इतना अगाध है और इसी कारण उन्हें प्रस्ताव रखते समय सङ्कोच था। पर भरतने उसे ऐसे उत्साहके साथ स्वीकार किया कि गुरुजी भी चकित रह गये। इसीलिये तुलसीदासजी भरतकी मतिकी उपमा जलराशिसे देते हुए गुरु वशिष्ठकी मतिको तटपर खड़ी हुई एक अबला बताते हैं—

मुनिमति ठाढ़ि तीर अबला सी।

बहरहाल अब गुरुजीको भरतके प्रेमका इतना विश्वास हो …या और उन्हें इतनी जानकारी हो गयी कि भरत राम और …के लिये क्या कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि उनमें स्वार्थका …भी नहीं। तभी तो उन्होंने जनकसे अपील की है कि …चमें पड़कर समस्याओंको इस प्रकार सुलझा दें कि—

सबकर धरमसहित हित होई।

…च' शब्द समस्याकी जटिलताका द्योतक है। भरतका …के ऊपर देख चुके परन्तु भरत-वन-वास बहुतोंके लिये उतना ही दुःखदायी था जितना रामका, इसीलिये तो भरत-वन-गमनके प्रस्तावपर रानियाँ रोने लगीं—

सम दुख सुख सब रोवहिं रानी।

महाराज जनक बड़े ही गम्भीर कर्मयोगी थे और उन्होंने स्वयं 'धर्म' 'राजनय' और 'ब्रह्मविचार' में अपनी यथामति पहुँच बतायी है। इसीलिये उनकी दृष्टि समस्याके सब अङ्गोंपर थी। उनकी अपील भरतसे यह थी—

राम सत्यव्रत धर्मरत सब कर सील सनेहु।
संकट सहत सकोचबस कहिय सु आयसु देहु॥

आह! बेचारे भरतपर कितना भार है। समस्याकी कुंजी उसीके हाथमें है। जनकके इन शब्दोंने भरतपर एक विचित्र प्रभाव डाला। भरतके मस्तिष्कमें विचारोंका ज्वार-भाटा-सा आ गया। क्या वह एक सेवककी अवस्थामें होते हुए रामको इस 'सकोच-संकट' में देख सकते हैं? कदापि नहीं! ऐसे सेवककी 'मति' को भरतजी 'पोची' समझते हैं जो 'साहिबहिं सकोची' हो। महाराज जनकने समस्याको खूब समझा और 'संकट' और 'सकोच' शब्दोंसे रामकी करुणाजनक अवस्थाका वर्णन उनसे बढ़कर किसीने नहीं किया। पर तुलसीदासजीने रामको 'दीनदयालु' बताया है और उसकी परिभाषा बड़े सुन्दर शब्दोंमें यों की है—

परदुख दुखी सु दीनदयाला॥

और इसीलिये तो सकोच और संकट था कि ऐसे दीनदयालुके हृदयमें सत्यव्रत और धर्म एक ओर, शील और सनेह दूसरी ओर खींचातानी कर रहे थे। यह कसौटी भरतके लिये गुरु वशिष्ठकी कसौटीसे भी अधिक कठिन थी। वशिष्ठकी कसौटीकी परख तो भरतके वन-गमनसे पूरी हो सकती थी पर रामके संकट और सकोचकी मात्रा उससे और अधिक बढ़ जाती जो रामके लिये असहनीय होती। समस्याकी गहनता भरत भी समझते हैं और उनका मस्तिष्क भी एक बार तो चकरा ही जाता है। परन्तु उनके सेवा-धर्मने विजय पायी और यद्यपि शुरूमें वह अपने लिये यह कहते हैं—

मन मलीन मैं बोलत बाहर,

परन्तु उनके निर्णयमें दृढ़ता है और यों कहते हैं—

छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवाधरम कठिन जगु जाना॥
स्वामि-धरम स्वारथहिं बिरोधू। बधिर अंध प्रेमहिं न प्रबोधू॥

राखि राम रुख धरम-ब्रत पराधीन मोहि जानि।
सबके सम्मत सर्बहित करिय प्रेम पहिचानि॥

सेवाधर्मकी कितनी पराकाष्ठा है कि भरत अपनेको नितान्त पराधीन बताते हैं। सच है, सेवाधर्म और स्वार्थ एक साथ चल ही नहीं सकते और इसीलिये यद्यपि भरत उस धर्मकी कठिनाईका अनुभव करते हैं फिर भी महाराज जनकके प्रस्तावको पूर्णतः स्वीकार करते हुए तुरंत कह देते हैं कि रामका 'रुख' और उन्हींका धर्मव्रत निभाते हुए काम किया जाय। सेवक अपने अस्तित्वको बिलकुल मिटा देता है और स्वामीकी ही सन्तुष्टतामें सन्तोष मानता है। आह! परिस्थिति कितनी कठिन है और सेवाधर्म कितना कठोर, कि जिस हेतुसे भरत अयोध्यासे आये थे वही हाथसे जाता हुआ दिखायी देता है। परन्तु धन्य है, आदर्शवादी भरतको और उनके पवित्र ध्येयको कि अन्ततः विजय भरतहीकी होती है, परिस्थितिकी नहीं। ऐसा त्याग स्वतन्त्रताका मूल है क्योंकि वह विवशतासे नहीं स्वेच्छासे ही किया गया है। तुलसीदासजी भरतको मन्थराके छुड़ाते समय 'दयानिधि' कह चुके हैं और वही दयाभाव यहाँ पुनः प्रकटरूपसे विद्यमान है। भरत निजी स्वार्थके त्यागमें तनिक नहीं हिचकते परन्तु महाराज जनकसे यह अपील जरूर करते हैं कि सर्वहितको छोड़ा न जाय और सर्वसम्मतिसे ही काम किया जाय। भरतकी उपर्युक्त वक्तृता इतनी सुन्दर है और उसमें धर्मके इतने गूढ़ और आवश्यक विषय मौजूद हैं कि उसकी आलोचना करते हुए तुलसीदासजी स्वयं कहते हैं—

ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी॥

हम यह देख चुके हैं कि स्वयं भगवती सरस्वतीने देवताओं-के उस प्रस्तावको स्वीकृत नहीं किया जिसमें उनसे भरतकी मति फेरनेका अनुरोध था और साफ कह दिया कि वैसा करनेमें मैं असमर्थ हूँ। इतना ही नहीं बल्कि वह कहती हैं—

बिधि-हरि-हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी॥

माया असत्य है और भरत सत्य एवं शीलके आदर्श, फिर भला दोनोंको साथ ही कैसे निभाया जा सकता है? तुलसीदासजी कहते हैं—

तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू।

सरस्वतीका अपनी निर्बलताका यह प्रकटीकरण कितना सत्य और हमारे लिये कितना आशाजनक है। शेक्सपियरके दुःखान्त नाटकोंके अध्ययनके पश्चात् हमारे ऊपर निराशाका राज्य होता है और मनुष्य दैवी शक्तियोंके हाथका खिलौना ही प्रतीत होने लगता है जिसे वे जब चाहें चकनाचूर कर दें। मानो हमारी आत्मामें पूर्ण विकासकी शक्ति ही नहीं। परन्तु रामायणकी करुणाजनक घटनाएँ पढ़नेके पश्चात् भी आत्मा निराश नहीं होती और हमें यह ज्ञात होता है कि अगर हमारी आत्मा सत्यपर दृढ़ रहे तो दैवी शक्तियोंपर भी विजय पा सकती है। कहीं-कहीं शेक्सपियरके किसी-किसी आलोचकने इस बातकी ओर कुछ इशारे किये हैं पर हमें तो वे इशारे खींचतानहीसे जान पड़ते हैं। अस्तु, जो कुछ भी हो, परन्तु सत्यप्रिय आत्माकी ऐसी विजय तो कहीं भी नहीं दीखती। क्या अब भी भरतकी महानताका अनुभव सभ्य जगत् न करेगा और क्या आदर्शवाद एक मखौलकी वस्तु ही रहेगा?

अन्तमें वशिष्ठजी स्वयं भगवान् रामसे अपील करते हैं और वह अपने स्वाभाविक औदार्य और भ्रातृप्रेमके कारण वशिष्ठ, जनक तथा भरतकी बात मान लेनेको तैयार हो जाते हैं। यहाँ पुनः सारा भार भरतके ही सिरपर है परन्तु वह सेवाधर्मके सत्यव्रती हैं और इस समय भी सारी परिस्थितियों-को अपने स्वामी रामजीके ही दृष्टिकोणसे देखते हैं। भरतकी सारी वक्तृता बड़ी मार्मिक है परन्तु हम उसमेंकी थोड़ी ही पंक्तियाँ देते हैं—

प्रभु-पितु-बचन मोहबस पेली। आयेहु इहाँ समाज सकेली॥
... ...
सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥
कृपा भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर।
दूषन भे भूषन सरिस सुजस चारु चहुँ ओर॥

आह, सेवाधर्मके आदर्शने सारा नक्शा ही पलट दिया। भ्रातृस्नेह अब 'मोह' दिखायी देता है और समाजके साथ आना 'ढिठाई'। धन्य है भरतका सेवाधर्म, परन्तु स्वामी भी तो राम-जैसा ही हो, कि इन सब बातोंको 'सनेह सेवकाई' ही माने। आध्यात्मिक अवस्थामें भक्तिमार्गकी यही तो उत्तमता है कि भक्तके 'दूषण' भी 'भूषण' हो जाते हैं। वह वक्तृता इतनी करुणाजनक है और साथ ही इत[illegible] शान्तिप्रद भी कि हृदयके भीतर करुणा और शान्तिकी ल[illegible] चढ़ने-उतरने लगती हैं।

भौतिक राजनीतिक विज्ञानके पुजारी वर्तमान [illegible] अनेक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्सोंको तनिक [illegible] कूटकी कान्फ्रेन्सोंसे मिलावें और विचार करें कि [illegible] कान्फ्रेन्सोंकी असफलताका मुख्य कारण क्या है।

भी अनेक दृष्टिकोण थे। वहाँ भी अनेक स्वार्थोंका संघर्षण विद्यमान था। परन्तु सत्य और स्नेहका ऐसा राज्य था कि स्थूल स्वार्थको ठुकरानेके लिये सभी तैयार थे। और आज सत्यका कोसों पता नहीं और स्नेह केवल जिह्वासे कहनेकी वस्तु रह गया। जब हर तरफ ठोस स्वार्थका ही भाव हो तो पहले किसी बातका तै होना ही कठिन, और फिर अगर कोई बात तै भी हुई तो स्थायी नहीं होती। सहयोगका मूल-मन्त्र स्नेह और सेवा है और जहाँ वैसे भाव होते हैं तो गुत्थियाँ स्वयं ही सुलझती जाती हैं, क्योंकि भरतकी भाँति हम स्व ही परिस्थितियोंको औरोंके दृष्टिकोणसे देखने लगते हैं। भारतकी अध्यात्मविद्याके शब्दोंमें हम वर्तमान कूटनीतिको मायाका परिवार ही कहेंगे और माया कभी टिकाऊ नहीं होती। जब सत्य और स्नेहकी मात्रा बढ़ेगी तभी राष्ट्रसंघ (League of Nations) सफल होगा और तभी संसारमें आर्थिक सहयोग और सच्चा निःशस्त्रीकरण हो सकेगा। इसीलिये तो तुलसीदासजीने रामराज्यके झंडेके लिये कहा है—

सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।

आह, अभी तो 'सत्याग्रह' भी सफल नहीं हुआ तो फिर 'सत्यशील-आग्रह' की कौन कहे? अब हमें अवश्य ही यह ज्ञात हो गया होगा कि भरतका नामकरण करते समय गुरु वशिष्ठने उस नामकी व्याख्या इन शब्दोंमें यों की थी कि—

बिस्वभरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥

क्या विश्वका भरण-पोषण किसी और भावके होते हुए भी हो सकता है? कदापि नहीं! जो अपस्वार्थी होगा और स्नेह एवं सेवाके भावोंसे शून्य, वह विश्व तो दूर, एक घरानेका भरण-पोषण भी नहीं कर सकता। इसीसे तो रामायणके दूसरे निःस्वार्थी सेवक हनूमान्‌से भगवान् रामने स्वयं इस आदर्शका मूल-मन्त्र भाषा-श्रुतिमें यों कहा है—

सोइ अनन्य जाके अस मति न टरै हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूपरासि भगवंत॥

इन सिद्धान्तोंके विचारके बाद अब यह दिखने लगा है ..ठिनाइयोंका अन्त होने ही वाला है और चित्रकूटकी ..न्सोंकी सफलता संसार-साहित्यमें स्वर्णके सदृश सदा ही ..गी। यहींपर हमें नाटकीय कलाकी भी एक बात कह आवश्यक है। तुलसीदासजीने देवताओं, अयोध्या-..रत इत्यादि, राम तथा लक्ष्मणके दृष्टिकोणोंके संघर्षणको ऐसी पूर्णतासे चित्रित किया है कि करुणरस बराबर छलकता रहता है और आखिर-आखिरतक हमारे हृदयकी अस्थिरता एवं उत्सुकता बराबर बनी रहती है और जबतक रामका अन्तिम निर्णयात्मक भाषण नहीं होता तबतक आशाकी पूरी झलक नहीं दिखती।

किसी विषयपर अनेक दृष्टिकोणोंसे विचार करनेकी आदत और अपनी ही आलोचनाका अभ्यास होना ऐसे आदर्शवादीके लक्षण ही हैं जिसे स्वाभाविक महिमाके अतिरिक्त मानसिक संस्कृतिकी प्राप्तिका भी यथेष्ट अवसर मिला हो। यहींपर हैमलेटकी अपेक्षा भरतकी महानताका दर्शन होता है। कारण हैमलेटके आदर्शवादमें वह परिपक्वता न थी जो भरतमें स्थान-स्थानपर दिखती है। बेचारे हैमलेटका मस्तिष्क चारों ओरके विचारोंके झकोरोंमें चक्कर खाता है और उसकी निर्णायक शक्ति काम नहीं देती। परिणाम यह कि उसकी धारणा यह हो जाती है कि 'अन्तरात्मा हम सबको कायर बना देता है।' * उसकी दूसरी धारणा यह भी होती है कि 'कोई चीज़ भली या बुरी नहीं है बल्कि हमारे विचार ही उसे भली या बुरी बना देते हैं।' † आह! बेचारे हैमलेटके पतन और उसके जीवनकी निष्फलताके मुख्य कारण यही सिद्धान्त हैं। इसीलिये वह अपने विचार-प्रवाहको कठोरताके साथ रोकता है और नतीजा यह होता है कि वह अन्धविश्वासी एवं भाग्यवादी बन जाता है और चारों ओरके अन्धकारमें उसे इस सिद्धान्तकी सिर्फ धुँधली झलक दिखायी देती है कि कोई ऐसी आध्यात्मिक शक्ति परदेकी ओटमें है जो हमारे कर्मोंके परिणामोंको सुधार देती है चाहे हम उन्हें कितना ही अनगढ़ा बनावें। भरत विवेक और विचारको कभी हानिकर नहीं समझते, यद्यपि उनकी दशा भी विचारों और परिस्थितियोंके झकोरोंमें, हैमलेटसे कम करुणाजनक नहीं है। उन्हें भी 'भूख न बासर नींद न राती' की चिन्ताजनक अवस्थाका सामना करना पड़ता है, और हम देख ही चुके हैं कि चित्रकूटमें उनके मस्तिष्कमें ऐसा विचार-संघर्षण उत्पन्न हो जाता है जिसे कविने 'एकहु युक्ति न मन ठहरानी' द्वारा व्यक्त किया है। परन्तु ऐसी परिस्थितियोंमें भी भरतजी विवेक एवं विचारको हाथसे नहीं जाने देते क्योंकि सत्यकी खोजमें वही दोनों पथप्रदर्शक हैं। यह सच है कि भरतको भी स्वयं

---

* Conscience makes cowards of us all.

† Nothing is good or bad but thinking makes it so.

कोई युक्ति नहीं सूझती पर उनमें इतना विवेक अवश्य बाकी है कि जब रामजी गहन परिस्थितियोंको सुलझानेवाला प्रस्ताव अपनी ओरसे पेश करते हैं तो भरत उसे सहर्ष मान लेनेमें तनिक भी नहीं हिचकिचाते। तुलसीदासजी भरतकी तुलना हंससे करते हैं जिसमें नीर-क्षीर-विवेक-शक्ति विद्यमान है। रामको भरतकी इस विवेक-शक्तिपर इतना विश्वास है कि वह भरी सभामें भरतको 'धर्मधुरंधर' जानकर बिना किसी सोच-विचारके यह कह देते हैं कि–'भरत कहहिं सो किए भलाई।' उस सभाकी वक्तृताएँ इतनी सुन्दर और विचारपूर्ण हैं कि मैं पाठकोंसे उन सबोंको ध्यानपूर्वक पढ़नेकी प्रार्थना अवश्य करूँगा। भरोसेसे भरोसा पैदा होता है और इसीलिये भगवान् रामके इस भाषणका भरतपर बहुत बड़ा असर पड़ा। स्वयं भरत भी परिस्थितिके सारे अङ्गोंपर विचार कर चुके हैं और महाराज जनकके पूर्वकथित अपीलकी सहायतासे उन्हें अपने सेवाधर्मके निर्णयमें अब कुछ भी कठिनाई बाकी नहीं रही। जब रामने सब कुछ भरतहीपर छोड़ दिया तो सारी सभा चकित हो गयी और भरतहीका मुँह ताकने लगी। तुलसीदासजीने उस अवस्थाका चित्रण यों किया है—

रामसपथ सुनि मुनि जनक सकुचे सभासमेत।
सकल बिलोकहिं भरत-मुख बनै न उत्तर देत॥

कितनी चिन्ता और अस्थिरता है। सबकी आँखें भरतपर हैं और कविने उनकी धीरताका चित्र अपने शब्दोंमें यों खींचा है—

सभा सकुचबस भरत निहारी। रामबन्धु धरि धीरज भारी॥
कुसमय देखि सनेह सँभारा। बढ़त बिन्ध्य जिमि घटज निवारा॥

कितना महान् धैर्य और आत्मसंयम है। उपमा कितनी विशाल और महाकाव्यके लिये कितनी उपयुक्त है। अँगरेजी भाषामें ऐसी उपमाएँ मिल्टन और स्पेन्सरके काव्योंसे बाहर मिलनी मुश्किल हैं। सच है, सनेह भी धर्मके लिये होता है, न कि धर्म सनेहके लिये। इसीलिये महाकवि तुलसीदास भी 'सत्य'-शब्दको 'शील' के पहले ही रक्खा करते हैं जैसा हम अभी रामकी ध्वजा-पताकावाले अवतरणमें देख चुके हैं। भरतजी खड़े होकर अपनी वक्तृता शुरू करते हैं। कवि कहता है—

करि प्रनाम सब कहँ कर जोरी। राम राउ गुरु साधु निहोरी॥

वक्तृताकी आलोचना करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं कि वह विनय, विवेक, धर्म और नयकी खानि है। कुछ शब्दोंके उपरान्त 'प्रभु पितु-बचन मोहबस पेली' इत्यादि-वाला अवतरण आता है जो हम ऊपर दे चुके हैं और यह भी कह चुके हैं कि भरतने परिस्थितिको रामजीके दृष्टिकोणसे देखना प्रारम्भ कर दिया। रामके स्वामित्वकी विशेषताका वर्णन भरतजी पुनः इन शब्दोंमें करते हैं—

देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥
को साहिब सेवकहिं नेवाजी। आपु समान साज सब साजी॥
निज करतूति न समुझिअ सपने। सेवक सकुच सोचु उर अपने॥
सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहौं पन रोपी॥

यह है स्वामीपर भरोसा और संकल्पकी दृढ़ता। इसीलिये भरत आगे कहते हैं—

आज्ञा सम नहिं साहिब-सेवा। सो प्रसाद जन पावै देवा॥

इसके बादका सारा दृश्य इतना सकरुण है कि उसे बिना अश्रुपातके पढ़ना कठिन है। वह कविके शब्दोंमें संक्षिप्ततः यों वर्णित है। करुणाके साथ माधुर्यका सम्मिश्रण अपना अद्भुत चमत्कार दिखाये बिना नहीं रहता—

प्रभु-पद-कमल गहे अकुलाई। समय सनेहु न सो कहि जाई॥
कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी॥
भरतबिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेह सभा रघुराऊ॥

रघुराउ सिथिल सनेहु साधु समाज मुनि मिथिलाधनी।
मन महँ सराहत भरत-भायप भगतिकी महिमा घनी॥
भरतहिं प्रसंसत बिबुध बरसत सुमन मानस मलिनसे।
तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन से॥

रामका उत्तर भी वैसा ही सुन्दर है और भरतके प्रति अन्तिम अपील तो अनुपम ही है। राम कहते हैं—

सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनि-कुल-पालक होहू॥
साधन एक सकलसिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी॥
सो बिचारि सहि संकट भारी। करहु प्रजा परिवार सुखारी॥

दृष्टिकोण कितना बदल जाता है। रामका मुख्य विचार और उनकी अपीलका आधार अपना कुल-धर्म और प्रजा-पालन है। फिर चाहे तदर्थ कितना ही त्याग करना पड़े और कितना ही संकट सहना पड़े। रामको भरतके चरित्रका कितना मार्मिक ज्ञान है। वह जानते हैं कि भरतका [illegible] हंसरूप है और वह आदर्शवादी हैं। यदि उच्च आदर्श [illegible] आगे रक्खा जायगा तो ऐसा कोई सांसारिक संकट न[illegible] जिसे वह सहन करनेको तैयार न हों। भगवान्के [illegible] कोमलता भी स्पष्ट ही है। वह किसी बातके [illegible]

नहीं रखते बल्कि प्रत्येक विषयको मनोहर अपीलके साँचेमें ढाल देते हैं। भ्रातृ-प्रेमकी ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

चाँटी बिपति सबहि मोहि भाई। तुम्हहिं अवधिभर बड़ि कठिनाई ॥
जानि तुम्हहिं मृदु कहहुँ कठोरा। कुसमय तात न अनुचित मोरा ॥
होहिं कुठाउँ सुबन्धु सहाये। ओडियहि हाथ असनिहुँके घाये ॥

हृदयस्पर्शी अनुरोधकी पराकाष्ठा है। भरत-जैसे आदर्शवादी भाई और सेवकके प्रति किस कोमलतासे अपील की गयी है।

सभी पुनः स्तम्भित हो जाते हैं—'सिथिल समाज सनेह समाधी।' आध्यात्मिक विषयके ज्ञाता 'सनेह' से उत्पन्न होनेवाली इस समाधि-अवस्थापर विचार करें। भरतकी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। जिस राजको वे रामके प्रति अन्याय होनेके कारण विष समझते थे उसीका सञ्चालन रामाज्ञारूप होकर 'सनेहमयी सेवा' बन जाता है, मानो इस 'कुठाउँ' पर भगवान् रामके लिये वह 'ओडियहि हाथ असनिहुँके घाये' का प्रतिरूप ही बन जाते हैं और स्वयं अपने शब्दोंमें उनका सेवाधर्मसम्बन्धी आदर्शवाद इस प्रकार पूर्ति पा जाता है—'आज्ञा सम नहिं साहिब-सेवा।' तुलसीदासजी इसका वर्णन यों करते हैं—

मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू। मा जनु गूँगहिं गिरा प्रसादू ॥
कीन्ह सप्रेम प्रनाम बहोरी। बोले पानिपंकरुह जोरी ॥
नाथ भयउ सुखु साथ गयेको। लहेउँ लाम जग जनम भयेको ॥
अब कृपालु जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई ॥
सो अवलम्ब देहु मोहिं देवा। अवधि पार पावहुँ जेहि सेवा ॥

'गूँगहिं गिरा प्रसादू' की उपमा कितनी उत्तम है! भरतकी विवेकशक्तिकी मूकता हम 'एकहु युक्ति न मन ठहरानी' में पहले ही देख चुके हैं। इस मूकताको भगवान् रामके सिवा और कौन दूर कर सकता है? उन्हींकी कृपासे—

मूक होहिं बाचाल पंगु चढ़हिं गिरवर गहन।

—जैसी घटना हो सकती है। आह! करुणरस अव[illegible]ी स्थिर है। भरतको 'अवधि' पार करना कठिन जान पड़ता [illegible]और इसीलिये तो अवलम्बकी प्रार्थना है। ऐसी सूक्ष्मताका [illegible]र्शन तुलसीदासजीका ही काम है। राम 'अवलम्ब' रूपमें [illegible]ी चरणपादुका देते हैं जो भरतके लिये राम-राजकी [illegible]क बन जाती हैं। इसीलिये तो भरतने अवध पहुँचकर—

[illegible] मुनि सिख पाइ असीस बड़ि गनक बोलि दिन साधि।
[illegible]पर प्रभुपादुका बैठारे निरुपाधि ॥

अब भरतका हर्ष इतना विकास पा जाता है कि वह चित्रकूट-भ्रमणकी आज्ञा इन शब्दोंमें माँगनेका साहस करते हैं—

चित्रकूट सुचि थल तीरथ बन। खग मृग सरिसर निर्झर गिरिगन ॥
प्रभुपद अंकित अवनि बिसेखी। आयसु होइ तो आवहुँ देखी ॥

बाल्यकालके वर्णनमें हमने चारों राजकुमारोंको वनमें 'मृगया' करनेके हेतु जाते देखा है, परन्तु आज भरत हर्षके होते हुए भी करुण एवं प्रेमरसके पुटके कारण यात्राभावसे ही वन-भ्रमणार्थ जा रहे हैं। इसीलिये इस भ्रमणमें कविने स्नान, मज्जन, दरश और ध्यानकी ही प्रधानता दिखायी है। परन्तु भरतके उपर्युक्त यात्राभावमें प्रेम एवं हर्षका भी इतना समावेश है कि वह वन-अभिरामका आस्वादन कर सकते हैं। इसी कारण तुलसीदासजीने भी इस यात्राका वर्णन यों शुरू किया है—

सहित समाज साज सब सादे। चले राम-वन-अटन पयादे ॥
कोमल चरन चलत बिनु पनहीं। भइ मृदु भूमि सकुचि मन मनहीं॥
कुस कंटक काँकरी कुराईं। कटुक कठोर कुवस्तु दुराईं ॥
महि मंजुल मृदु मारग कीन्हे। बहत समीर त्रिविध सुख लीन्हे ॥
सुमन बरषि सुर घन करि छाहीं। बिटप फूलि फल तृन मृदुताहीं॥
मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल रामप्रिय जानी ॥

सम्पूर्ण प्राकृतिक दृश्यको महाकविने सजीवता और भावुकतासे भर दिया है, मानो कविके काव्यसंसारमें निर्जीवताका पता ही नहीं। आंग्ल-साहित्यके मर्मज्ञ, बाइरनके इस वाक्यकी कि 'जलने अपने स्वामीको पहचाना और लज्जा एवं प्रेमसे लाल हो गया *' बड़ी प्रशंसा करते हैं जो ठीक ही है। परन्तु उन्हें तुलसीदासजीके उस जैसे अगणित वाक्योंकी ओर भी ध्यान देना चाहिये। पृथिवी, वायु, खग, मृग सभी तो रामप्रिय भरतकी सेवा कर रहे हैं। भरतके जीवनमें तपके साथ मधुरता एवं कोमलता अबसे स्थायित्व धारण करेंगी। महात्माओंके लिये आपत्तियाँ लाभदायक होती हैं†।

ऊपरकी तुलनात्मक व्याख्यासे हमें स्पष्ट प्रतीत हो गया कि भरतकी महानता गुरु वशिष्ठ और जनकसे भी बढ़कर

---

* The water recognized its Master and blushed.—Byron.

† Sweet are the uses of adversity.
—Shakespeare.

है। केवल राम ही उनसे बड़े हैं और वही भरतको कठिनाईके समय सहारा दे सकते हैं। हमारे सामने आदर्शवाद और सामञ्जस्यपूर्ण कलाप्रियताकी सजीव प्रतिमा भरतके रूपमें मौजूद है जिनमें विवेक और दृढ़ताकी इतनी मात्रा अवश्य है कि परिस्थितियोंपर विजय हो सकती है।

भरतके चरित्रका अध्ययन कितने ही वर्षोंतक मेरा लक्ष्य रहा है और इधर नवम्बर सन् ३१ से तुलनात्मक व्याख्याके लिये आवश्यक सामग्री एकत्रित करना मेरा काम। आज ज्यों-त्यों करके इस पवित्र कार्यकी पूर्ति हो रही है। जब तुलसीदासजीने भरतकी प्रशंसा करते हुए यह कहा है—

तुलसीसे सठहिं हठि राम सनमुख करत को।

तो मुझ-जैसे तुच्छ बीसवीं शताब्दिके भौतिक वातावरणवाले व्यक्तिके लिये पर्याप्त प्रशंसा करना नितान्त असम्भव ही है। इस लेखमालाके इस अंशको समाप्त करनेसे पूर्व यह अनुचित न होगा कि कुछ साहित्यमर्मज्ञोंके वे विचार भी रख दिये जायँ जिनमें हैमलेटसे उपदेश लिये गये हैं और यह भी दिखाया जाय कि उनसे भरतके चरित्र तथा अयोध्याकाण्डके अध्ययनमें क्या सहायता मिलती है।

कुछ साहित्यमर्मज्ञोंका हैमलेटसे उपदेश-ग्रहण और उससे भरत और अयोध्याकाण्डके अध्ययनपर पड़नेवाला प्रकाश।

इंग्लैण्डके राजकवि जान मेसफील्ड कहते हैं—'प्रतिहिंसा और संयोग दोनों ही जीवनको उसके मार्गपर पुनः प्रवाहित करते हैं और इसके निमित्त वे ऐसे जीवनोंका जिनमें अधिक पशुत्व या आतुरता या मूर्खता या अति विज्ञता है, नाश करते हैं, क्योंकि वे सभी एक समयमें एक साथ पृथिवीपर रह नहीं सकते*।'

कितनी दुःखजनक बात है और इसी कारण इंग्लैण्डमें 'साधारणता' की ही कद्र है और आदर्शवाद एक मखौलकी वस्तु है। क्या यह इस बातका परिणाम नहीं है कि महाकवि शेक्सपियरने अपने व्यक्तित्वको बिल्कुल छिपाये रक्खा ? यूरोप, हैमलेटके अध्ययनसे यह नतीजा निकालता है कि आदर्शवाद निष्फल और दुःखान्तक ही है। पर हैमलेटके वास्तविक अध्ययनसे यह साफ़ पता चलता है कि महाकवि शेक्सपियरका आशय संसारको इस बातकी चेतावनी देना था कि पाशविक भौतिकवाद आदर्शवादको चकनाचूर भले ही कर दे परन्तु खुद भी मिटकर ही रहेगा। उसने आदर्शवादके प्रति हमारे दयाभावको उत्तेजित किया है और पाशविक भौतिकवादके ही प्रति घृणा उत्पन्न करायी है। क्या अच्छा होता यदि शेक्सपियर अपने नाटकीय आदर्शोंके साथ, जिनमें कला प्रकृतिका मुकुर बन जाती है, अपने व्यक्तित्वको तुलसीदासजीकी तरह आलोचक एवं उपदेशक-रूपमें हमारे सामने रखता जिसमें मनमाने नतीजे निकालनेकी गुंजाइश न रहती। यह याद रहे कि तुलसीदासजीने भी प्रकृतिका चित्र ज्यों-का-त्यों खींचा है और तब आलोचना की है। कुछ भी हो, पाश्चात्य सभ्यताको तो महाकवि शेक्सपियरकी चेतावनीसे सतर्क हो जाना चाहिये कि यदि वह आदर्शवादके मिटानेपर तुली रहेगी तो स्वयं भी मिट जायगी।

कविवर मेसफ़ील्डके शब्द बता रहे हैं कि पाश्चात्य जगत् जीवन-प्रवाहको ठीक मार्गपर ले आनेका साधन केवल विनाशमें ही देखता है जिसमें 'अधिक बुद्धिमान्' की भी दुर्गति है। उन्हें पता नहीं कि अहिंसात्मक साधनसे भी काम चल सकता है। उपर्युक्त व्याख्यासे पता लग चुका है कि राम और भरतने अपने अहिंसात्मक साधनोंसे ही जिनमें त्याग एवं तप मुख्य हैं, अयोध्याके जीवन-प्रवाहको सीधे रास्तेपर ला रक्खा था और दशरथके सिवा जिन्हें कविवर मेसफ़ील्डके शब्दोंमें 'अति आतुर' कहा जा सकता है और किसीके मरनेकी नौबत न आयी थी। हाँ, लंकामें अवश्य पाशविक भौतिकवादका विनाश हुआ पर वहाँ भी विभीषण-जैसे आदर्शवादीको बचा लिया गया था।

वे लोग जो शेक्सपियरके इस सिद्धान्तके प्रशंसक [illegible] कि कलाका अभिप्राय 'केवल प्रकृतिका मुकुर' होना [illegible] कविवरके शब्दोंमें यह भूल जाते हैं कि जब हम [illegible] मुकुरमें गौरसे देखते हैं तो बहुधा हमें अपनी ही छ[illegible] दिखायी देती है और इसी कारण कविवर लि[illegible] हैमलेटमें चित्रित हुई दुनिया वह [illegible]

* Revenge and chance together restore life to her course by the destruction of lives too beastly and the lives too hasty and the lives too foolish and the lives too wise to be all together on the earth at the same time—Masefield.

जो हमें ऐतिहासिक नाटकोंमें मिलती है। वह तो दुनियाका ऐसा प्रतिबिम्ब है जो कवि हमारे मस्तिष्कीय अनुभवके लिये सामने रखता है*। यह आलोचना बड़ी मार्मिक और सत्य ही है। कलाके केवल मुकुररूप होनेकी बात ही कहाँ रही? और जब यह ठीक है तो फिर हम संसारका अधिक भयावना चित्र क्यों खींचें? तब तो हमें गो० तुलसीदासजीका ही यह सिद्धान्त ठीक जँचता है कि ब्रह्माने संसारमें भलाई और बुराईको दूध और पानीके सदृश मिश्रितरूपमें ही रचा है। और जहाँ ब्रह्माकी सृष्टिमें बक और काक हैं वहाँ भरत-जैसे हंस भी मौजूद हैं जो नीर एवं क्षीरको पृथक्-पृथक् कर देते हैं। हमारे सामने आशा रहती है परन्तु इस प्रकार, कि हम सांसारिक कठिनाइयोंको भूल न जायँ। तुलसीदासजीके चित्रित विश्वमें आदर्शवादी जीवोंके लिये कठिनाइयोंके रूपमें कसौटियाँ मौजूद हैं जिनकी जाँच-पड़ताल दैवी शक्तियाँ खूब ही करती हैं। परन्तु जब कोई महान् आत्मा जाँचमें खरा उतरता है तो सारी शक्तियाँ उसकी सहायक ही बन जाती हैं। किसी अंगरेज़ आलोचकने ठीक ही कहा है कि हैमलेटके अध्ययनसे हमारी यही धारणा होती है कि अमानुषिक शक्तियाँ जो भलाई या बुराईके बीज हममें बोती हैं, उनका उगना या न उगना हमारे आत्मारूपी सूर्यके प्रभावपर ही निर्भर है†। जब यह सिद्धान्त ठीक है तो क्या यह स्पष्ट नहीं कि जहाँ एक ओर भरतपर दैवी शक्तियोंकी बुराईका असर ही न पड़ सका वहाँ हैमलेट सांसारिक कठिनाइयोंकी ठोकरोंसे चकनाचूर ही होनेके लिये रह गया? रामायणमें वे शक्तियाँ जो कैकेयी और मन्थराको प्रभावित कर सकीं, भरतके सामने नितान्त असमर्थ ही रहीं। वसिष्ठजीने योगवाशिष्ठमें राजकुमारोंको जिस सिद्धान्तका उपदेश दिया था कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्यका निर्माता है, उसे उनके शिष्यवरों—राम और भरतने चरितार्थ करके दिखा दिया।

डा० मिलरने जो भारतवर्षमें एक कालेजके प्रिंसिपल रहे हैं, स्वयं पादरी होनेके कारण और भारतके आध्यात्मिक वातावरणसे प्रभावित होनेके कारण, शेक्सपियरके नाटकोंसे तरह-तरहके उद्देश्योंके निकालनेकी चेष्टा की है। उन्होंने भी लिखा है कि हैमलेटमें कर्तव्यपरायणताका अभाव था। कर्तव्यपरायणताकी व्याख्या मिलर महोदयने बड़े मार्मिक शब्दोंमें की है। कहते हैं कि कर्तव्यपरायणता हमारी वह स्वाभाविक शक्ति है जो हमें यथोचित कर्मोंके निमित्त अन्तःप्रेरणा देती है, न कि केवल सत्यका दार्शनिक एवं हार्दिक अनुभव‡। हमारा मस्तिष्क पवित्र गर्वसे ऊँचा हो जाता है जब हम देखते हैं कि ये शब्द अक्षरशः भरतपर सत्य उतरते हैं और उनकी कर्तव्यपरायणता कड़ी-से-कड़ी कसौटियोंपर भी खरी उतरती है। मिलर महोदय यह भी कहते हैं कि, 'हैमलेटमें कर्तव्यपरायणताका अभाव कोई आश्चर्यजनक बात नहीं। मनुष्यकी शक्तियों तथा हृदयकी गतियोंके आध्यात्मिक विवेचनके अतिरिक्त भी सबकी सम्मति है। कर्तव्यपरायणताकी शक्ति या ऐसी ही अन्य शक्तियों वा गतियोंके लिये यह आवश्यक है कि उदाहरण, सहानुभूति एवं संयम मौजूद हों। तभी उसमें ऐसी पर्याप्त शक्ति हो सकती है कि वह प्रकट हो सके या अपना कार्य कर सके§।' यह ईश्वरकी कृपा ही थी कि संसारमें हमारे ही महाकवि तुलसीदासजीको इस बातका पूर्ण गौरव मिला कि वह आदर्शवादकी आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकारकी आवश्यकताओंकी पूर्तिका चित्रण कर सकें। रामका सर्वोत्तम उदाहरण मौजूद ही था, और अयोध्याका समूचा

---

* It is not an image of the world in [illegible]le like the world of late historical [illegible]s. It is an image of the world as [illegible]llect is made to feel it.

† The seed scattered in us by beings [illegible] life comes to good or evil [illegible]e Sun in us.

‡ That instinctive which impels one to act rightly and not only a philosophical perception of what is right or emotionally feeling for it.

§ It is not wonderful that he wants it, apart from metaphysical discussions concerning the origin of the impulses of powers of human nature, it is agreed on all hands that this and very similar power and impulse needs example and sympathy and training, if it is to be strong enough to show its presence or to do its work.

वातावरण भी तुलसीदासजीने ऐसा बाँधा कि भरतकी ओर कैकेयी और मन्थराके सिवा सभीकी सहानुभूति है। साहित्यमर्मज्ञोंको वाल्मीकि और तुलसीकी रामायणोंमें तुलना करनेपर यह स्पष्ट हो जायगा कि वाल्मीकिने अपने तुलसीरूपी नवीन अवतारमें अयोध्याके वातावरणका जो चित्रण किया है उसमें माता कौसल्या आदिकी सतर्कता और कटुताको भी स्थान नहीं दिया। अब संयमके लिये तो हम पहलेसे ही सभी राजकुमारोंको उन गुरु वशिष्ठके चरणोंमें बैठते हुए देख चुके हैं जो योगवाशिष्ठके रचयिता हैं। आह! बेचारे हैमलेटके सामने कोई उदाहरण न था और वातावरण सारा-का-सारा दूषित ही था जिसे शेक्सपियरने इस प्रकार चित्रित किया है कि डेन्मार्ककी व्यवस्थामें कुछ सड़न है*। हैमलेटकी शिक्षा और दीक्षामें भी आदर्शवादके विकासका काफ़ी अवकाश नहीं दीखता।

अवतरण कहाँतक दिये जायँ, क्योंकि उनसे तो साहित्यभाण्डार ही भरा पड़ा है। पर एक अवतरण दिये बिना रहा नहीं जा सकता। जिसका प्रो० डनकी आलोचनामें समावेश है। प्रोफ़ेसर महोदय म्योर सेन्ट्रल कालिज प्रयागके हालहीमें सञ्चालक रह चुके हैं अतः उनकी समालोचना नवीनतम कही जा सकती है। उनका कथन है—'जो धर्म हैमलेटके ज़िम्मे था और जिसका भार उसपर अति अधिक था वह अन्ततः पूरा हुआ। परन्तु उसकी पूर्ति उन अनेक साधनोंसे नहीं हुई जो हैमलेटके चञ्चल एवं शिथिल मस्तिष्कमें चक्कर लगा रहे थे और जो एक-एक करके त्यागे जा चुके थे। बल्कि उसकी पूर्ति हुई उन क्रमिक एवं आकस्मिक घटनाओंसे, जिन्हें साधारण लोग केवल संयोग समझते हैं परन्तु जिनमें विचारपूर्ण मस्तिष्क दैवी-शक्तिका सञ्चालन देखता है। समस्याकी पूर्ति हो गयी और दुष्टको दण्ड मिल गया, परन्तु आह, कितना सौजन्य व्यर्थ गया और निर्दोष सौजन्यको कितना दुःख मिला। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों हुआ? महाकवि शेक्सपियर इसका कोई उत्तर नहीं देता और महाकविकी रायमें यही दुःखान्त घटनाका कारण है। कवि महारे सामने सौजन्यको सौजन्यके रूपमें और बुराईको बुराईके रूपमें रख देता है। फिर संसारमें उनपर चाहे कुछ भी बीते। इसके अतिरिक्त तो मौन-ही-मौन है†।

हम इस लेखमालाके शुरूमें ही यह दिखला चुके हैं कि संयोगका स्थान वनवासकी दुःखान्त घटनाओंमें क्या है। हम यह भी बता चुके हैं कि तुलसीदासजी रहस्यके भावको किस प्रकार बराबर बनाये रखते हैं, और इसीलिये हमने उचित स्थानपर महाराज दशरथके इन वाक्योंकी विवेचना भी की है—

> और करे अपराध कोउ और पाव फलभोग।
> अति बिचित्र भगवंत गति कोउ नाहिं जानन जोग॥

हमने यह भी देखा है कि कालके दो पाटोंके बीच घुरेके साथ भला भी गेहूँके घुनकी तरह पिस गया। यहाँतक तो महाकवि तुलसी और महाकवि शेक्सपियरके सिद्धान्तोंकी समानता है परन्तु तुलसीकी व्यवस्थामें मनुष्य परिस्थितियोंका सञ्चालक होता है, न कि संयोगके हाथोंका खिलौना! पर इसका यह आशय नहीं कि तुलसीदासजी कर्तव्यपरायणता या आदर्शवादको फूलोंकी सेज बना देते हैं। कर्तव्य-मार्ग कठिनाइयोंसे भरपूर है और आदर्शवादका मार्ग भी कण्टकाकीर्ण। इसीसे करुणरस बराबर आदिसे अन्ततक क़ायम है। महाकवि तुलसीदासजीका सिद्धान्त लगभग वही है जो कविवर टेनीसनके इन शब्दोंसे प्रकट है कि 'कर्तव्य-मार्ग कीर्तिकी मंज़िलपर पहुँचा देता है'‡। महाकवि शेक्सपियरकी शैलीमें अँधेरा भाग्यवाद ही मिलता है जिसमें हिंसा और प्रतिहिंसाका ही साम्राज्य है। हमारे महाकविकी शैली

---

* There is something rotten in the state of Denmark.

† The task committed to Hamlet, heavy as it bore upon him, has at last been accomplished, not in any often many ways which he had turned over and over in his restless wearied mi[illegible] and rejected one by one, but by a ser[illegible] of those inscrutable accidents whic[illegible] to most men seem mere chance, [illegible] which however to the reflective mi[illegible] "heaven is ordinant". The problem [illegible] solved, the retribution has been exa[illegible] from the guilty, but at what was[illegible] what suffering of the innocent [illegible] noble! Why should this be? [illegible] lies the tragedy as shakespeare se[illegible] and he gives no answer; he only [illegible] us that the noble is noble and [illegible] evil, however they fare in this w[illegible] "the rest is silence".

‡ Path of duty leads the way [illegible]

बिल्कुल दूसरी ही है। मन्थरा स्वार्थपूर्ण भौतिकवादकी दासी है जो उसकी निम्न श्रेणीके देखते हुए स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थूल भावनाओंवाली स्त्रीके लिये कुछ शारीरिक ताड़ना उचित थी जो शत्रुघ्नके हाथों उसे मिल गयी थी। परन्तु भरतको दया आयी ही गयी और उन्होंने उसे छुड़ा दिया। कैकेयी राजमहिषी और माता थी अतः उसे भरतके कटु शब्दोंके साथ साधारण अपकीर्तिमें ही दण्ड मिला। जब भरत राज्यको स्वीकार नहीं करते और जब कैकेयी माता कौसल्याका प्रेम भरतके प्रति देखती है तो उसकी आँखें खुलने लगती हैं। पहले उसका पश्चात्ताप गौणरूप धारण करता है और वह भी सबके साथ वनयात्राके लिये तैयार हो जाती है जिसका उद्देश्य रामको वापस लाना था। सुधारकी यह प्रथम श्रेणी है और अब कैकेयीमें वह हठ बाक़ी नहीं। पश्चात्ताप शनैः-शनैः चित्रकूट पहुँचनेपर बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है और इसीलिये तुलसीदासजी वहाँपर लिखते हैं—

गरै गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहै केहि दूषन देई॥

महाकविकी व्यवस्थामें इसी पश्चात्तापके कारण कैकेयीकी आत्मा शुद्ध हो जाती है। भरतके शब्द भले ही कठोर रहे हों परन्तु राम और कौसल्याने कैकेयीके प्रति शील एवं स्नेहको ही बर्ता। इसीलिये कैकेयीके सुधारमें किसी प्रकारकी भी शारीरिक ताड़नाकी आवश्यकता नहीं हुई। हम उस व्यवस्थामें सत्य और शीलका ही राज्य पाते हैं और त्याग एवं वैराग्यकी ही प्रधानता। जहाँ महाकवि शेक्सपियर मूक रह जाता है वहाँ महाकवि तुलसीदासजी संसारके रहस्योद्-[illegible]नमें हमें बहुत कुछ सहायता देते हैं। इसी कारण इस [illegible]कविका करुणरस रसरूप आस्वादनका विषय बना रहता [illegible] और वह घोर एवं रौद्ररूप धारण नहीं करता जो हैमलेटमें [illegible]लता है। इसीलिये अयोध्याकाण्डके अन्तमें आशाकी झलक [illegible]जूद है और हैमलेटके अन्तमें विनाशका आरक्तिम दृश्य!

[illegible] भरतजीके चरित्रविषयक तुलसीदासजीका अन्तिम [illegible]याँ है—

[illegible]म-प्रेम-पियूष-पूरन होत जनम न भरतको।
[illegible]मन-अगम यम नियम शम दम बिषम व्रत आचरत को॥
[illegible]दाह दारिद दम्भ दूषन सुजस मिसु अपहरत को।
[illegible] तुलसीसे सठहिं हठि राम सनमुख करत को॥

[illegible] व्याख्या कितनी व्यापक एवं संक्षिप्त है। इसीसे [illegible]नुभव करता हूँ कि मेरी आलोचना इतनी विस्तृत होती हुई भी कम है! मैंने विशेषतः साहित्यिक अंगपर ही विचार किया है और कहीं-कहीं नैतिक दृष्टिकोणको भी सामने रक्खा है। परन्तु भरतजीके नाम-करणके समय गुरु वशिष्ठने उनको 'विश्वभरणपोषण' करनेवाला भगवान्का अवतार ही कहा है, जिससे स्पष्ट है कि अभी उनके चरित्रका एक बहुत बड़ा अंश शेष है। वह अंश आध्यात्मिक है और इस लेखमालाके उद्देश्यसे बाहर। वस्तुतः भरतजी दिशा-सूचक यन्त्रकी सुईके समान हैं जिसका लक्ष्य हमें रामरूपी ध्रुवके सम्मुख करना है। तुलसीदासजीकी व्यवस्थामें रामजी 'सकल लोकदायक विश्राम' ही हैं जहाँ शान्तिका वह भाण्डार है जिसमें जाकर मन एवं भावोंकी चञ्चलता विलीन हो जाती है। उसी भाण्डारमें भरतको भी शान्ति मिली थी।

लेखमालाके इस अंशको समाप्त करनेके पूर्व मुझे दो शब्द और पाठकोंसे कहना है। मैंने तुलनात्मक व्याख्या अवश्य की है और महाकवि तुलसीको शेक्सपियरसे बढ़ा-चढ़ा दिखाया है। परन्तु मेरा आशय न कभी रहा और न है कि शेक्सपियरकी महानताको पाठकगण भूल जायँ। मुझे हैमलेटके पढ़नेका सौभाग्य पहले-पहल सन् १९१४ ई० में मिला था जब मैं उसे निजी रीतिपर एक बी० ए० के छात्रको पढ़ा रहा था। उस समय उसका जो प्रभाव मेरे हृदयपर पड़ा था वह अकथनीय है। सच तो यह है कि हैमलेटके अध्ययनने ही मुझे अयोध्याकाण्डके अध्ययनकी ओर प्रेरित किया और मेरा ध्यान भरतके चरित्रकी ओर गया। इसके पहले भी शेक्सपियरकृत 'ओथेलो' के अध्ययनसे ही मुझे मन्थरा-कैकेयीके चरित्र-संघर्षणके समझनेमें सहायता मिली थी और तत्पश्चात् 'मैकबेथ' तथा 'किंग लियर' के पढ़नेपर ही कैकेयी तथा दशरथके चरित्रोंको मैं समझ सका था। रामायणके बाद मैंने किसी साहित्यिक पुस्तकका अध्ययन इतने बार नहीं किया जितना 'हैमलेट' का। और आज भी जब उसे पुनः उठाकर पढ़ता हूँ तो कुछ-न-कुछ नयी सामग्री ही मिलती है। यदि पाठकगण तुलनाका पूर्ण आनन्द उठाना चाहें तो अयोध्याकाण्डके साथ चारों उपर्युक्त दुःखान्त नाटकोंका या कम-से-कम 'हैमलेट' का अध्ययन अवश्य करें—चाहे वह अनुवादरूपमें ही हो।

व्याख्या इतनी सूक्ष्म और तुलना इतनी गहन थी कि मैं त्रुटियोंके होनेकी सम्भावनाका स्वयं अनुभव करता हूँ और तदर्थ क्षमाप्रार्थी हूँ।

साधकोंसे

संसारमें अधिक लोग तो ऐसे हैं जिनका भगवान्‌के भजनसे कोई सरोकार नहीं है, वे ईश्वरको मानते तो हैं परन्तु उनका वह मानना प्रायः न मानने-जैसा ही है। वे शरीर, धन, स्त्री, पुत्र, मान, यश आदिमें ही परम सुख मानकर दिन-रात उन्हींकी चिन्तामें लगे रहते हैं। उनके चित्तको क्षणभरके लिये भी भगवच्चिन्तनकी आवश्यकताका विचार करनेके लिये भी अवसर नहीं मिलता। इन लोगोंमें कुछ तो ऐसे हैं जो इन सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति और रक्षाके लिये भी यथार्थरूपसे उत्साहसहित निर्दोष चेष्टा न करके या तो शरीरके आराम, प्रमाद और इन्द्रियोंकी तृप्तिमें ही लगे रहते हैं, या भाँति-भाँतिके दुराचरण और पाप करके जीवनको और भी कलुषित, अशान्त और दुःखमय बना लेते हैं।

कुछ लोग ऐसे हैं जो तर्क और प्रत्यक्षवादका आश्रय लेकर मोहसे ढकी हुई बुद्धिके अभिमानमें ईश्वरका विरोध करते हैं, ये जब ईश्वरके अस्तित्वको ही नहीं मानते, तब उसके भजनकी आवश्यकता तो क्यों समझने लगे?

कुछ लोग ऐसे हैं जो भगवान्‌का भजन करनेमें स्वयं तो कोई दिलचस्पी नहीं रखते; और न भजन या परमार्थपथमें लगना ही चाहते हैं; पर सांसारिक कामनाओंकी पूर्तिके लिये भोले लोगोंको ठगनेके उद्देश्यसे भक्त, ज्ञानी, साधु, महात्मा या सिद्ध पुरुषका-सा स्वाँग धारण किये रहते हैं। इनमेंसे कुछ लोग तो बड़े ही चालाक होते हैं, जो जीवनभर दम्भको निभा देते हैं। ये वस्तुतः अत्यन्त ही निकृष्ट जीव हैं और बड़े ही मूर्ख हैं। दुनियाको ठगने जाकर स्वयं ही ठगे जाते हैं और मनुष्यजीवनको व्यर्थ ही नहीं खोते, वरं बहुत बड़ा पापका बोझा बाँधकर ले जाते हैं। दम्भी लोग ईश्वरसे नहीं डरते, वे स्वेच्छाचारी होते हैं और दुनियाको ठगनेके लिये निरंकुश होकर नाना प्रकारके समयानुकूल भेष धारण करते हैं। ऐसे लोग असली ईश्वर-भजनकी जरूरत समझते ही नहीं। ये नास्तिकोंसे भी गये-बीते होते हैं। ईश्वरको न माननेवाले ईमानदार नास्तिक तो समझमें आनेपर ईश्वरको स्वीकार भी कर सकते हैं, क्योंकि वे सच्चे होते हैं, परन्तु दम्भी मनुष्यके लिये समझनेका और स्वीकार करनेका कोई प्रश्न ही नहीं है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो विषयोंके साथ ही भगवान्‌में भी कुछ प्रेम रखते हैं, वे समय और सुभीता मिलनेपर सत्संग, सेवा, दान, पुण्य, नित्य-कर्म, स्वाध्याय, भजन आदि भी करते हैं परन्तु भगवान्‌का महत्त्व बहुत कम समझनेके कारण इनकी विषयासक्ति कम नहीं होती, इससे इनके द्वारा न तो भजन ही बढ़ता है और न उसमें शुद्ध निष्कामभाव और अनन्यभाव ही आता है; अवश्य ही ये ईश्वर और पापसे डरते हैं और यथासाध्य पापसे बचनेकी कोशिश कर[illegible] ऐसे पुण्यकर्मा विषयासक्त लोग विपरीत करने[illegible] या कुछ भी न करनेवाले मनुष्योंकी अपेक्षा [illegible] अच्छे हैं।

थोड़े ही लोग ऐसे हैं, जिनके मनमें भगव[illegible] इच्छा जागती है और वे उसके लिये साधना[illegible] हैं, परन्तु इनमें भी बहुत ही थोड़े ऐसे होते[illegible] ध्येयकी प्राप्तितक साधनामें भलीभाँति लगे [illegible] उत्तरोत्तर अग्रसर होते हैं। इसीसे भगवान्‌ने [illegible]

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्ध[illegible]
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति त[illegible]

'हजारों मनुष्योंमें कोई विरला ही मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्धोंमें भी कोई विरला ही मुझको तत्त्वसे जानता है।'

इसका कारण यही है कि साधनामें प्रवृत्त होनेके समय प्रायः मनमें जैसी शुद्ध भावना, उत्साहकी वृत्ति, तत्परता और प्रीति देखी जाती है, वैसी आगे चलकर रहती नहीं। मूलमें ही बहुत मन्द मुमुक्षा होनेके कारण आगे चलकर भिन्न-भिन्न हेतुओंसे साधनामें शिथिलता आ जाती है, भावना दूषित हो जाती है, उत्साह घट जाता है, तत्परता नहीं रहती और प्रीति बहुत कम हो जाती है। साधना भार-सा मालूम होने लगती है, उसमें कोई रस नहीं आता। इससे कुछ लोग तो साधनाको छोड़ बैठते हैं, और कुछके हृदयमें दम्भ आ जाता है। थोड़े ही ऐसे बचते हैं जो साधनामें लगे रहते हैं, परन्तु उनमें भी बहुत-से ऐसे होते हैं जो थोड़ी-सी सिद्धिमें ही अपनेको कृतार्थ मानकर साधना छोड़ देते हैं और भगवान्‌की तत्त्वतः प्राप्तिसे वञ्चित रह जाते हैं। इसलिये साधकोंको कुछ ऐसी बातोंपर खयाल रखना चाहिये जिनसे [illegible]की साधनामें शिथिलता न आने पावे, और अन्त-[illegible]साधना छूटे नहीं। इसी विचारसे यहाँ साधकोंके [illegible] कुछ आवश्यक बातें लिखी जाती हैं—

[illegible] भगवत्प्राप्ति ही जीवनका एक मात्र उद्देश्य है, [illegible]का बहुत ही दृढ़रूपसे निश्चय कर लें। इस [illegible] कभी भी डिगें नहीं। संसारके सुख-दुःख, [illegible]भ, नाना प्रकारके प्रलोभन किसी तरह भी [illegible] इस लक्ष्यसे च्युत न कर सकें, इस तरहका [illegible]त लक्ष्य बना लें। और केवल उसी ओर दृष्टि [illegible]र-मार्गके विघ्नोंको वीरता, धीरतापूर्वक हटाते [illegible]ज चालसे आगे बढ़ते रहें।

[illegible] लक्ष्यकी सिद्धिके लिये साधना स्थिर करें। [illegible] एक-सी नहीं होती। लक्ष्य वह स्थान है जहाँ सबको पहुँचना है और साधना उसके मार्ग हैं। यदि सब लोग यह कहें कि हम तो एक ही रास्तेसे और एक ही चालसे वहाँ जायँगे तो उनका यह कहना भ्रमयुक्त है; भिन्न-भिन्न दिशाओंमें रहनेवाले भिन्न-भिन्न स्थितियोंके मनुष्योंका एक रास्ते और एक चालसे चलना सम्भव नहीं है? आसाम, कराची, मद्रास और बद्रिकाश्रम, इन चार स्थानोंके चार पुरुष काशी जाना चाहते हैं। परन्तु वे यदि कहें कि हम एक ही मार्गसे और एक ही चालसे जायँगे तो यह उनकी भूल है। क्योंकि वे चार भिन्न-भिन्न दिशाओंमें हैं, उनको अपने-अपने रास्तोंसे ही जाना पड़ेगा, और उन चारों स्थानोंकी दूरीमें, रास्तेकी बनावट-में और सवारियोंमें भी भेद है, ऐसी हालतमें वे एक चालसे भी नहीं चल सकते। हाँ, समीप पहुँचनेपर वे एक रास्तेपर आ सकते हैं। बस, यही बात साधनक्षेत्रमें है। जो लोग सबको एक मार्ग और एक चालसे चलाना चाहते हैं वे स्वयं न तो पहुँचे हुए हैं और न मार्गका ही उन्हें अनुभव है। अतएव अपने उपयुक्त साधनाकी जानकारीके लिये किसी जानकारकी शरण लेनी चाहिये। अपनी दृष्टिमें जो सबसे बढ़कर ऊँची स्थितिपर पहुँचे हुए महात्मा, त्यागी, दैवीसम्पत्तिवान् और भगवत्प्राप्त पुरुष दीख पड़ें, श्रद्धाभक्तिसहित जिज्ञासुके भावसे उनकी शरण लें (शरण होनेके पहले आजकलके जमाने-में इतना अवश्य देख लेना चाहिये कि वे 'कामिनी-काञ्चनके फन्देमें तो नहीं फँसे हैं।' चाहे कामिनी-काञ्चनका संसर्ग दिखावटी ही हो परन्तु उस दिखावट-का आप निश्चय नहीं कर सकते, इसलिये आपको तो वहाँसे डरना ही चाहिये।) और अपनी बुद्धिका अभिमान छोड़कर नम्रता और सेवासे उन्हें प्रसन्न करके अपने अधिकारके उपयुक्त साधना उनसे पूछें। तथा वे जो कुछ साधना बतला दें उसे श्रद्धा, तत्परता और इन्द्रियसंयमके साथ करने लगें। उनकी बतलायी

हुई साधना चाहे देखनेमें बहुत ऊँची न हो, चाहे दूसरे साधकोंकी साधनाओंसे वह नीचे दर्जेकी समझी जाती हो, चाहे उसमें प्रत्यक्ष लाभ न दीखता हो, और चाहे कुछ दिनोंके अभ्याससे कोई शान्ति भी नहीं मिली दीखती हो, तथापि उसे छोड़ें नहीं और इसके परिणाममें अवश्य ही कल्याण होगा, ऐसा निश्चय करके उनकी आज्ञानुसार साधना करते ही रहें। याद रखना चाहिये, कि एक दवा जो बहुत मूल्यवान् है और बहुत ही कठिनतासे मिलती है, परन्तु वह हमारे रोगकी निवृत्ति करनेमें समर्थ नहीं है, और दूसरी कौड़ियोंकी है तथा सहज ही मिलती है परन्तु वह हमारे रोगके लिये लाभदायक है तो वही हमारे क़ामकी है और उसीसे हमारा रोग-नाश हो सकता है। सद्गुरु महात्मा पुरुष हमारी स्थितिको पहचानकर हमारे लिये जिस साधनाका विधान कर देंगे, वही हमारे लिये हितकर है यह विश्वास रखना चाहिये। रोगका निदान निपुण वैद्य ही कर सकता है, रोगी नहीं। जो रोगी अनुभवी निपुण वैद्यके निदानको न मानकर मनमानी करता है, वह तो मरता ही है। फिर महात्माओंकी वाणीमें भी तो बल होता है; सत्यकाम जाबालको सिद्ध सद्गुरुने कहा कि 'इन चार सौ पशुओंको जंगलमें ले जाओ, इनकी सेवा करो, ये जब पूरे एक हजार हो जायँ तब लौट आना।' श्रद्धालु शिष्यने यह नहीं विचार किया कि 'मैं आया था ब्रह्मज्ञानकी साधना पूछने, और ये मुझको पशुओंके पीछे क्यों भेज रहे हैं?' वह आज्ञानुसार गोसेवामें लग गया, और हजार गौओंको लेकर लौटते समय राहमें ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी!

३—अपने लिये जो साधना स्थिर हो, उसके करनेमें जी-जानसे अपनेको लगा दें। आलस्य, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, सन्देह, [illegible] कुतर्क, अश्रद्धा, अनियमितता आदि दोषोंसे सर्वथा बचकर नियमित साधना करें। जबतक उस साधनाका पूरा परिणाम सामने न आ जाय, तबतक उसे बदलें नहीं। पहलेका रास्ता तै होनेपर ही दूसरा रास्ता पकड़ा जाता है; जो पहले ही रास्तेको बार-बार बदलता रहता है वह तो आगे बढ़ ही नहीं सकता; उसका सारा समय राह बदलनेमें ही बीत जाता है।

४—यह कभी न सोचें कि सिद्धि प्राप्त करनेके बाद साधनाको छोड़ ही देना है। बल्कि यह निश्चय करें कि जिस साधनासे सिद्धि मिली, वह तो हमारे लिये परम प्रिय वस्तु है, उसे कभी छोड़ना ही नहीं है। काकभुशुण्डिने कहा था कि 'मैं इसीलिये कौवेका शरीर नहीं छोड़ता कि मुझे इसीमें श्रीरामका प्रेम प्राप्त हुआ और श्रीरामके दर्शन मिले थे। अतः यह शरीर मुझे बहुत प्यारा है।

> ताते यह तनु मोहिं प्रिय, भयउ रामपद-नेह।
> निज प्रभु दरसन पाएउ, गयउ सकल संदेह॥

दूसरी बात यह है कि साधना छोड़नेकी कल[illegible] होनेसे मनुष्यको आगे चलकर वह साधना भ[illegible] प्रतीत होने लगती है। वह सोचता है, 'इतने [illegible] गये इस साधनाको करते, अब इसे [illegible] करता रहूँगा। इससे कुछ होता तो दिखायी दे[illegible] छोड़ दूँ इस बखेड़ेको।' इस प्रकारके विचार[illegible] साधनाको छोड़ बैठता है और वह उसी [illegible] भाँति, जो अपने गाँवसे गंगा नहानेको च[illegible] कोस चला आया परन्तु फिर यह स[illegible] 'इतना चला अभी तो गंगाजी आयी ही नहीं, [illegible] कब आवेगी, चलो लौट चलें।' बीस ही [illegible] चलनेसे असमर्थ होकर गंगास्नानसे वञ्चि[illegible] है; थोड़ी-सी साधनाके अभावसे बहुत [illegible] भी लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं कर पा[illegible]

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि साधनाके मार्गमें ही कई बार साधक अपनेमें दोषोंका अभाव देखकर भ्रमसे यह मान बैठता है कि मैं लक्ष्यपर पहुँचकर कृतकृत्य हो गया हूँ; ऐसी स्थितिमें जिसका पहलेसे साधना छोड़नेका निश्चय होता है वह साधना छोड़कर निश्चिन्त-सा हो जाता है। परन्तु साधन-रहित अवस्थामें कुसंग पाकर दबे हुए या दुर्बल हुए दोष पुनः जाग उठते हैं और बलवान् हो जाते हैं, और साधकको साधनाके मार्गसे गिरा देते हैं, किन्तु जिसका किसी भी अवस्थामें साधन न छोड़नेका निश्चय होता है वह साधना करता ही रहता है, इससे दबे दोषोंको सिर उठानेका अवसर ही नहीं मिलता और क्षीण होते-होते अन्तमें वे मर ही जाते हैं। यह सत्य है कि परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद कोई साधना करनी नहीं पड़ती। उसकी स्वाभाविक ही ऐसी स्थिति होती है, उसमें स्वाभाविक ही ऐसे सद्गुणोंका प्रादुर्भाव हो जाता है कि उसका संग करके, उसको देखकर, यहाँतक कि उसके गुण सुनकर ही [illegible]चारी पुरुष भी साधनमें लग जाते हैं। वह कुछ भी [illegible] इच्छा नहीं करता, उसके लिये कुछ भी [illegible] शेष नहीं रह जाता, तथापि उस महापुरुषसे [illegible]त शरीर, मन, वाणीसे जो कुछ भी होता है औ[illegible]त्र और लोककल्याणकारी ही होता है, [illegible] मौजूद है [illegible]मुक्त पुरुषोंके लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेकी [illegible] गयी है।

[illegible]: भगवत्प्राप्तिके बाद क्या होता है और क्या [illegible] इसलिये, इसकी यथार्थ मीमांसा भगवत्प्राप्तिसे [illegible]त कर नहीं सकता, और भगवत्प्राप्तिके बाद [illegible]आवश्यकता रहती नहीं। परन्तु साधकका [illegible] निश्चय होना चाहिये कि अपने तो साधना-[illegible]में [illegible]लक्ष्यसिद्धावस्था दोनोंमें ही साधनाको पकड़े [illegible]प्राप्तिके लिये, और प्राप्त होनेपर पूर्व अभ्यासके कारण अथवा लोकसंग्रहार्थ। उनका इसीमें कल्याण है। अतएव किसी भी अवस्थामें साधनाको छोड़ देना साधकके लिये हानिकारक है।

५—साधक तीन चीजोंकी बड़ी सावधानीसे प्राप्ति और रक्षा करते रहें—

(१) उच्चभाव—भगवत्प्राप्तिके अतिरिक्त मनमें और कोई भी कामना कभी न उठने पावे। भगवत्-प्राप्तिकी भी कामना न रहकर केवल भजनकी ही कामना हो तो और भी उत्तम है। भगवत्प्राप्ति या मोक्षकी कामना यद्यपि समस्त कामनाओंका सर्वथा नाश करनेवाली होनेसे कामना नहीं है, तथापि विशुद्ध प्रेम, अनन्य शरणागति अथवा तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंकी उच्चता देखते तो कोई भी कामना—भले ही वह कितनी ही विशुद्ध अथवा उच्च हो, नहीं होनी चाहिये। परन्तु ऐसा न हो तो भी आपत्ति नहीं है। हाँ, भोग-कामना तो सर्वथा त्यागनी ही चाहिये। स्त्री, पुत्र, धन, शरीरका आराम, मान, बड़ाई, स्वर्गसुख आदि इस लोक और परलोकके किसी भी दुर्लभ-से-दुर्लभ माने जानेवाले पदार्थके लिये मनमें कामनाकी गन्ध भी कल्पनासे भी न रहने पावे। यही उच्च भाव है।

(२) दैवी सम्पत्ति—भगवत्प्राप्तिकी इच्छा तभी समझी जाती है, जब कि संसारके सारे भोगोंकी इच्छा सर्वथा नष्ट होकर एक भगवान्‌को पानेकी ही अमिट और अति उत्कट लालसा हृदयमें जाग उठे। इस महान् विशुद्ध इच्छाकी जागृति तभी होती है जब आसुरी सम्पदाका नाश होकर चित्त दैवी सम्पदाका अटूट भण्डार बन जाता है। जबतक एक भी आसुरी सम्पदाकी वस्तु हमारे मनमें है तबतक मोक्ष या भगवत्प्राप्तिकी कामना त्याग करनेकी बात तो दूर रही, मोक्षकी यथार्थ इच्छा ही नहीं हुई है; साधकको बड़ी ही सावधानीसे आसुरी सम्पदाको खोज-खोजकर उसका नाश कर देना चाहिये।

यह विश्वास रखना चाहिये कि हमारेद्वारा जो कुछ दुष्कर्म बनते हैं, या हमारे हृदयमें जो भी दुर्भाव रहते हैं उसमें भूलस हो, प्रमादसे हो या कमज़ोरीसे हो, हमारी आत्माकी अनुमति अवश्य रहती है। यदि आत्मा बलपूर्वक मनसे कह दे कि 'तुम आजसे एक भी पापवृत्तिको अपनेमें नहीं रख सकते।' और पापवृत्तियोंको ललकारकर कह दे कि, 'जाओ निकल जाओ, यहाँसे तुरन्त, यहाँ रहे तो समूल नष्ट हो जाओगे।' तो मनकी हिम्मत नहीं कि एक भी दोषको अपनेमें स्थान दे सके, और पापवृत्तियोंकी शक्ति नहीं कि क्षणभर भी वे हमारे अंदर ठहर सकें। आत्माके समान बलवान् और कोई भी नहीं है। आत्माके ही बलको पाकर सब बलवान् हैं। आत्माकी शक्तिसे ही सबमें शक्ति है। शक्तिका मूल उद्गमस्थान और पूर्ण केन्द्र तो आत्मा ही है। यही सबका सचेतन शक्तिधाम है। भगवांन्ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
(गीता ३।४३)

'इस प्रकार आत्माको बुद्धिसे भी परम शक्तिमान् और श्रेष्ठ जानकर अपनेद्वारा इन सबको (बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीरादिको) वशमें करके हे महाबाहो! इस (ज्ञानियोंके नित्य वैरी और सब पापोंके मूल) दुर्जय कामरूपी शत्रुको मार डालो।'

भगवान्की इस वाणीसे यह निश्चय होता है, और सन्तोंका ऐसा अनुभव भी है कि आसुरी सम्पदा और उसके प्रधान आधार काम, क्रोध, लोभादिका नाश करके दैवी सम्पदाका अर्जन करना भगवत्कृपासे हमारे लिये कोई बड़ी बात नहीं है। बस, आत्मामें बलवती आज्ञाशक्तिका प्रका[illegible] चाहिये, जो उसका स्वरूप है; फिर आसुरी सम्पत्तिका विनाश और दैवी सम्पत्तिका विकास होते देर नहीं लगती। आत्माको जागृति होते ही आसुरी सम्पदाएँ भागने लगती हैं और दैवी सम्पदाओंका प्रवाह चारों ओरसे आने लगता है।

(३) अन्तर्मुखी वृत्ति—इन्द्रियोंकी और मनकी दृष्टि सदा बाहरकी ओर ही होती है। इसीसे स्वाभाविक ही चित्तवृत्ति भी बहिर्मुखी रहती है। साधक यदि विशेषरूपसे सावधान न रहें तो उनकी साधनाका लक्ष्य विचार-बुद्धिसे भगवान् होनेपर भी क्रियारूपमें विषय-भोग ही बना रह जाता है। वे अपनी प्रत्येक साधनाको बाहरी शक्तिसे शक्तिसम्पन्न बनाने और बाहर ही उसका विकास देखनेकी इच्छा करते हैं। सारी शक्ति भगवान्से, जो नित्य हमारे अंदर आत्मारूपसे भी विराजित हैं,—आती है और सारी शक्तियोंसे उन्हींकी हमें पूजा करनी है। इस बातको साधक प्रायः भूल जाते हैं, इससे उनका चित्त बाहर-ही-बाहर भटकता है और इसी हेतुसे वे साधनाके फलस्वरूप अवश्य प्राप्त होनेवाली यथा[illegible] शान्तिको नहीं पाते। वृत्तिको बाहरसे हटा[illegible] लगानेके लिये—विषयरूप संसारसे [illegible] सच्चिदानन्दघन परमात्मामें जोड़नेके लिये य[illegible] एकान्तवास, जप, स्वाध्याय आदि उपा[illegible] चाहिये। किसी भी तरहसे हो, चित्त आठों पह[illegible] में ही लगा रहे, ऐसा प्रयत्न किये बि[illegible] सहज ही सफलता नहीं मिलती!

६—साधनाको निरुपद्रव और सफ[illegible] लिये शरीर, वाणी और मन तीनोंके [illegible] आवश्यकता है। शरीरसे चोरी, मैथुन[illegible] दूसरेका अपमान, टेढ़ापन या ऐंठ, [illegible] अपवित्रता, व्यर्थ क्रिया, और कुसंग[illegible] आदिका त्याग करे। वाणीसे [illegible]

अहितकर, चुगली, निन्दा, अधर्मयुक्त परचर्चा और व्यर्थ वचनोंका त्याग करे । मौन रहनेसे भी वाणीके बहुत दोषोंका नाश हो सकता है । मनसे शोक, निर्दयता, द्वेष, वैर, हिंसा, अशुद्ध विचार, भोगकामना, परदोषचिन्तन और व्यर्थ चिन्तनका त्याग करना चाहिये । इस विषयमें विवेक-युक्त होकर विशेष सावधानी रखनी चाहिये । एक मनुष्य स्त्रियोंमें नहीं बैठता, परन्तु स्त्रियोंका चित्र देखता है, स्त्रीसम्बन्धी पुस्तकें पढ़ता है, तो वह स्त्रीसंग करता ही है । एक मनुष्य कुसंगमें नहीं जाता परन्तु बुरे-बुरे चित्र देखता है और लिखी गन्दी बातें पढ़ता है, वह भी कुसंग ही करता है । बल्कि मनमें स्त्रीचिन्तन और कुविचार जबतक हैं तबतक यही समझना चाहिये कि इनका यथार्थ त्याग हुआ ही नहीं । परन्तु इतना ध्यान रहे कि जिस दोषका जिस किसी प्रकारसे जितने भी अंशमें त्याग हो, उतना ही लाभकारी है । मनमें संयम नहीं होनेपर भी वाणी और शरीरका संयम तो करना ही चाहिये । [illegible] मनके संयममें बहुत सहायक होता है ।

[illegible] यह न समझें कि हम साधन करते ही [illegible] इस संयमकी हमें क्या आवश्यकता है; [illegible]द रखना चाहिये कि जबतक भगवत्प्राप्ति नहीं और जबतक हमारे अंदर रहनेवाले अज्ञानजनित [illegible] विकारोंका सर्वथा नाश नहीं होता, वे [illegible] और साधनाके कारण छिपते हैं, दबते [illegible]बल होते हैं; यदि संयमयुक्त सत्संग [illegible] चलती रहे तो क्षीण होते-होते वे [illegible] होनेके साथ ही नष्ट हो जाते हैं परन्तु [illegible] न रहे तो अनुकूल वातावरण पाकर वे [illegible] बलवान् हो जाते हैं, और हमारी साधन-[illegible]ट लेते हैं जैसे घरके भीतर छिपे हुए [illegible]ओंका दल देखकर बलवान् हो जाते हैं । उनका साहस बढ़ जाता है और वे हमला करनेकी तैयारी करने लगते हैं । और यदि दोनों ओरसे आक्रमण होता है तो गृहस्थको प्रायः लुटना ही पड़ता है । इस प्रकार बाहरके दोषोंका सहारा पानेसे अंदरके दोष बढ़कर हमारी सारी साधनाको नष्ट कर देते हैं । इसलिये मन, वाणी और शरीरके अटूट संयमके बलसे अंदरके दोषोंको सदा दबाते और मारते रहना चाहिये तथा बाहरके नये दोषोंको जरा भी आने नहीं देना चाहिये । साधकको निरन्तर आत्मनिरीक्षण करते रहना चाहिये, और जरा-से भी दोषको देखते ही उसे मारना चाहिये ।

७—साधकको उपदेशक, नेता, गुरु, आचार्य, और पञ्च आदि नहीं बनना चाहिये । संसारमें अपने-अपने क्षेत्रों-में इन सभीकी आवश्यकता और उपादेयता है । परन्तु ये सभी साधन संसारसे बाहरकी चीजें हैं । या तो विषयी पुरुष आसक्तिवश इनमें रहते हैं, या निःसंग और निष्काम मुक्तपुरुष जलमें कमलके पत्तेकी तरह निर्लेप रहकर ('पद्मपत्रमिवाम्भसा') लोक-संग्रहार्थ ये कार्य करते हैं । साधकोंके लिये तो इन्हें अपने मार्गके प्रधान विघ्न समझकर इनसे दूर रहना ही श्रेयस्कर है ।

पहले-पहले तो अच्छे साधक पुरुष निःस्वार्थ दया या लोकहितके उद्देश्यसे ही इन कामोंमें पड़ते हैं, परन्तु पीछे जब इनका विस्तार होता है और रागद्वेष-मय जगत्से रात-दिनका सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है तब बहुत बुरी दशा होती है । जिस मोहको छोड़नेके लिये साधना आरम्भ की थी, वही दूसरे रूपमें उसे आ घेरता है । मोहको प्रबलतासे सारी साधना छूट जाती है और वह (विरक्त साधुको भी साधुके वेशमें ही) पूरा प्रपञ्ची बना देता है ।

इसके सिवा एक बात और भी है । भगवत्प्राप्त पुरुष तो आलोचन[illegible] साधारण साधक [illegible] चाहिये ।

जब उपदेशक, नेता, गुरु, आचार्य या पञ्च बन जाता है तो वह अपनेको, अपने लक्ष्यको और अपनी स्थितिको प्रायः भूल-सा जाता है। वह जो कुछ कहता है और करता है, सो दूसरोंके लिये ही कहता है। परिणाम यह होता है कि जिन दोषों और बुराइयोंसे बचनेका वह दूसरोंको उपदेश करता है, स्वयं उन्हींको आवश्यक और अनिवार्य समझकर अपनाये रखता है। उसका जीवन बहुत ही बाह्य बन जाता है। इसीके साथ-साथ उसमें पूजा-प्रतिष्ठा और मान-बड़ाईकी इच्छा प्रबलरूपसे जागृत और विस्तृत होती है जो उसे साधन-पथसे सर्वथा गिरा देती है।

साथ ही साधकको बहुधंधी भी नहीं होना चाहिये। इतना कार्य अपने पीछे कभी नहीं लगा रखना चाहिये जिसमें उसे भजन और ध्यान आदि आवश्यक साधनांगोंकी पूर्तिके लिये अवकाश ही न मिले। शास्त्रार्थ या विवादमें पड़ना भी साधकके लिये बहुत हानिकर है।

इसलिये मान-सम्मान, अभिमान-गर्व, पूजा-प्रतिष्ठा आदिसे तथा उपर्युक्त दोषोंसे बचनेके लिये साधकको जहाँतक हो सके, प्रसिद्धिके कार्योंसे सर्वथा अलग ही रहना चाहिये।

यह स्मरण रखना चाहिये कि ईश्वरकी दृष्टिमें जो उत्तम है, वही उत्तम है; क्योंकि उन्हींकी दृष्टि निर्दोष एवं सत्य है। मनुष्यके द्वारा उत्तम कहलानेसे कुछ भी नहीं बनता। भीतरकी न जाननेवाली जनता तो दम्भीकी भी तारीफ कर सकती है।

८—साधकको यह दृढ़ और अटूट विश्वास रखना चाहिये कि भगवान्‌के शरणागत, साधनमें लगे हुए सच्चे पुरुषके लिये भगवत्कृपाके बलसे लक्ष्यको प्राप्त करना जरा भी कठिन नहीं है। निराशाकी तो बात ही नहीं, उन्हें कठिनता भी नहीं होती। भगवान्‌पर विश्वास करना सब सफलताओंकी एक कुंजी है। भगवान् या आत्माकी शक्ति अप्रतिहत और अमोघ है। जो इस शक्तिका आश्रय लेता है वह सभी क्षेत्रोंमें निश्चय ही सफल होता है। कोई भी विघ्न ऐसा नहीं जो इस शक्तिके सामने ठहर सके और कोई भी कार्य ऐसा नहीं कि जो इसके लिये असम्भव हो।

हाँ, साधकको यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि भ्रमसे, प्रमादसे और असावधानीसे कहीं वे भगवान्‌की इस अमोघ शक्तिके बदले शरीर और विषय-जन्य आसुरी शक्तिका तो आश्रय नहीं ले रहे हैं। उनका मन उन्हें धोखेमें रखकर कहीं दुनियावी पदार्थों, मनुष्यों, साधनों और विचारोंका तो अवलम्बन नहीं पकड़ रहा है।

(शेष आगे)

हनुमानप्रसाद पोद्दार

कल्याण

अन्धे बन जाओ—परमात्माको छोड़कर और किसीको देखनेमें—दूसरा कुछ देखो ही मत। ऐसा न हो सके—जगत् दीखे तो कम-से-कम दूसरोंके दोषोंको, परायी स्त्रीको, लुभी दृष्टिसे भोगोंको, पराये पापोंको और जगत्की सत्यताको तो देखो ही मत।

× × ×

गूँगे बन जाओ—भगवान् और भगवान्‌के सम्बन्धकी बातोंको छोड़कर अन्य कुछ भी बोलनेमें। जो कुछ बोलो—भगवान्‌के नाम और गुणोंकी ही चर्चा करो। ऐसा न हो सके—बिना बोले न रहा जाय तो कम-से-कम असत्य, कपटपूर्ण, दूसरोंका [illegible] करनेवाले, परनिन्दाके, अपनी प्रशंसाके, बकवादके और भगवान्‌में प्रीति न उपजानेवाले वचन तो बोलो ही मत।

× × ×

बहरे बन जाओ—भगवान् और भगवान्के सम्बन्धकी मधुर चर्चा, कीर्तन, गान आदिको छोड़कर और कुछ भी सुननेमें । जो कुछ सुनो—भगवन्नाम और भगवान्के तत्त्व और लीला-चरित्र ही सुनो । ऐसा न हो सके—और भी कुछ सुनना पड़े तो कम-से-कम ईश्वरनिन्दा, साधुनिन्दा, परनिन्दा, स्त्रीचर्चा, पराये अहितकी चर्चा, अपनी प्रशंसा, व्यर्थ बकवाद और चित्तको परमात्माके चिन्तनसे हटानेवाले शब्द तो सुनो ही मत ।

× × ×

लूले-लँगड़े बन जाओ—भगवान्के और भगवान्से सम्बन्ध रखनेवाले स्थानोंको छोड़कर और कहीं भी जानेमें—जहाँ भी जाओ भगवान्के प्रेमके लिये, उनकी सेवाके लिये उनके मन्दिरोंमें ही जाओ, चाहे उन मन्दिरोंमें मूर्ति हों, या वे साधारण घर हों । ऐसा न हो सके—दूसरी जगह जाना ही पड़े तो कम-से-कम—वेश्यालयमें, शराबखानेमें, जुवारियोंमें, कसाइयोंमें, पर-पीड़कोंमें, जहाँ भगवान्की, संतोंकी, धर्मकी, सदाचारकी निन्दा या इनके विरोधमें क्रिया होती हो ऐसे स्थानोंमें, जहाँ परनिन्दा और अपनी प्रशंसा हो, ऐसी जगहोंमें तो जाओ ही मत ।

'शिव'

हमारे दो प्रेमी

पिछले दिनों दो ऐसे महानुभावोंका शरीरवियोग हुआ है, जो अंगरेजी शिक्षित होनेपर भी शास्त्रमें विश्वास करनेवाले परम आस्तिक और सच्चे भक्त थे । इनमें एक लखनऊके प्रो० देशराजजी छुंबा, और दूसरे काशीके श्रीरामदासजी गौड़ ।

छुंबाजीकी भगवद्भक्तिने उनके सारे परिवारमें ही नहीं, लखनऊके बहुत-से नर-नारियोंमें भगवान्के प्रति प्रीति जागृत कर दी थी । जहाँ कहीं कीर्तन-कथा होती—छुंबाजी उसमें पहुँचते । लोगोंको ले जाते । उत्साह दिलाते । साधु-महात्माओंकी बड़ी श्रद्धाके साथ सेवा करते । आप बड़े ही नम्र, मधुभाषी, साधनापरायण पुरुष थे । पिछले दिनों वृन्दावनमें थे । आपके घरमें नित्य भगवान्की प्रेमपूर्वक पूजा होती है । इस दृष्टिसे आप धन्यजीवन थे और आपके शरीरत्यागसे सारे परिवारको और मित्रोंको वियोगका कठिन कष्ट होनेपर भी आपकी सच्ची निष्ठा देखते यह विश्वास होता है कि आप इस समय भगवान्के और भी विशेष [illegible]ीप और विशेष सुखकी स्थितिमें होंगे ।

श्रीरामदासजी विज्ञानके पण्डित थे, त्यागी थे, सिद्धान्तके पीछे आपने अच्छी आयके गौरवयुक्त पदोंको छोड़ दिया था । बस, भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी पूजा और पूजाके भावसे ही घरके निर्वाहके लिये [illegible]हित्यके द्वारा कुछ अर्थोपार्जनका कार्य करते थे । आप सनातनधर्मके बहुत अच्छे पण्डित, शास्त्रविश्वासी, [illegible]नु श्रीरामजीके सेवक, रामायणके मर्मज्ञ विद्वान् और साधु स्वभावके पुरुष थे । आपके इस शरीरमें न [illegible] हिन्दी-जगत्का एक विशेष श्रेणीका भक्त और वैज्ञानिक लेखक उठ गया । आपके स्थानकी पूर्ति दूसरे [illegible]हम [illegible] द्वारा भी होनी बहुत ही कठिन है । श्रीगौड़जीकी भक्तिनिष्ठा उनको सद्गति देनेमें समर्थ होगी । उनकी [illegible]हुआ [illegible] और बच्चोंके प्रति हिन्दी-संसारका जो कर्त्तव्य है, उसे पूर्ण करनेकी चेष्टा सबको करनी चाहिये । [illegible] दोनों ही सज्जन हमारे बड़े प्रेमी थे । इनके वियोगसे व्यावहारि[illegible] दृष्टिसे हमें बड़ा दुःख है । [illegible]रकी दयाका रहस्य हम जान नहीं सकते !

[illegible]तो आले[illegible] [illegible]ण साधक

'वेदान्ताङ्क'

सहित

गतवर्षकी पूरी फाइल खरीदिये ।

कल्याणके विशेषाङ्कोंमें 'वेदान्ताङ्क' अपना खास स्थान रखता है । इसमें दो खण्ड हैं ।
श्रावणमासके पहले खण्डके ६२८ पृष्ठोंमें वेदान्तके बहुत गूढ़ विषयोंका अनेकों प्रकारसे
वर्णन है और बड़े-बड़े महात्माओंने तथा विद्वानोंने वेदान्तके सारको समझाया है । भाद्र-
पदके दूसरे खण्डमें कुछ बहुत अच्छे लेखोंके अतिरिक्त वेदान्तको माननेवाले कई सम्प्रदायके
आचार्योंका और उनके पीछेके विद्वानोंकी जीवनी और उनके सिद्धान्तोंका परिचय है ।
इनमें वेदान्तके प्राचीन आचार्य बादरि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, औडुलोमि, आश्मरथ्य, जैमिनि,
काश्यप, वेदव्यास; शंकरसे पूर्वके आचार्य भर्तृहरि, उपवर्ष, बोधायन, टंक, ब्रह्मदत्त,
भारुचि, सुन्दरपाण्ड्य; अद्वैतसम्प्रदायके आचार्य सर्वश्री गौडपादाचार्य, गोविन्दाचार्य,
शंकराचार्य, पद्मपाद, सुरेश्वराचार्य, सर्वज्ञात्ममुनि, शंकरानन्द, विद्यारण्य, वाचस्पति
मिश्र, श्रीहर्ष, अमलानन्द, श्रीचित्सुखाचार्य, आनन्दगिरि, भट्टोजि दीक्षित, सदा-
शिवेन्द्र, मधुसूदन सरस्वती आदि ४४ आचार्योंका; विशिष्टाद्वैतवादके सर्वश्री बोधायन,
ब्रह्मनन्दी, द्रमिडाचार्य, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, देवराजाचार्य, वेंकटनाथ आदि २३
आचार्योंका; शिवाद्वैतवादके श्रीश्रीकण्ठाचार्य आदिका; द्वैतवादके सर्वश्री मध्वाचार्य आदि
आठ आचार्योंका; द्वैताद्वैत या भेदाभेदमतके सर्वश्री निम्बार्काचार्यादि आठ आचार्योंका; शुद्धा-
द्वैतवादके सर्वश्री विष्णुस्वामी, श्रीवल्लभाचार्य आदि आचार्योंका और अचिन्त्यभेदाभेदके
श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीरूप गोस्वामी आदि पाँच आचार्योंका—यों लगभग सौसे ऊपर
बहुत बड़े-बड़े संतोंका वर्णन और सिद्धान्त आया है । इनमेंसे बहुतोंका वर्णन इस संत-
अंकमें नहीं आया है । इसके सिवा बहुत उत्तम-उत्तम तिरंगे ५४, दोरंगा १ और इकरंगे
१३६ चित्र हैं, जिनमें अनेकों संतोंके हैं ।

इन दो अंकोंके अलावा दस अंक और हैं, जो सभी संग्रहणीय हैं । इस फाइलको
लेनेसे संत-अंकमें नहीं आये हुए बहुतसे संतोंका बहुत सुन्दर वर्णन पढ़नेको मिल जायगा ।
कीमत पूरे फाइलकी अजिल्द ४≡) सजिल्दकी ५≡) है । अवश्य मँगाना चाहिये ।
केवल वेदान्ताङ्कका मूल्य ३) है ।

व्यवस्थापक—'कल्याण'
गोरखपुर

Regd. No. A. 1724.

मोक्ष कौन पा सकता है ?

जो पुरुष क्रोध, लोभ, मोह और भूख-प्यास आदिको जीत लेता है; जो मोहवश जुआ खेलने, शराब पीने, स्त्री-संग करने और शिकार खेलनेकी लतमें नहीं फँसता; और जिसका मन जवान स्त्रियोंको देखकर नहीं बिगड़ता, वही मोक्ष पा सकता है ।

जो जन्म, मरण और जीवनके क्लेशोंको भलीभाँति जानता है; जो अपने खानेभरका ही अन्न लेता है; जो महल और झोंपड़ेको समान समझता है, और जो सब प्राणियोंको बीमारी और मौतसे पीड़ित तथा जीविकाके लिये दुखी देखता है, वही मोक्ष पा सकता है ।

जो थोड़े ही लाभसे सन्तुष्ट होता; जगत्के सुख-दुःखमें स्वयं आसक्त नहीं होता; पलंग और पृथ्वीपर सोनेको, बढ़िया या घटिया भोजनको, रेशमी अथवा वल्कल वस्त्रोंको और कम्बल अथवा टाटको समान समझता है, वही मोक्ष पा सकता है ।

जो सब प्राणियोंको पञ्चभूतोंसे [illegible] जानकर स्वतन्त्र विचरता है; जो सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय और भय और उद्वेगको समान समझता है; जो खून-मांस और मल-मूत्रसे भरे शरीरको दोषोंकी खान, बीमारी और बुढ़ापेके दुःखों और दुर्बलता, इन्द्रियहीनता आदि दोषोंको जानता है, वही मोक्ष पा सकता है ।

जो देवता, ऋषि और असुरोंका भी परलोकगमन देखकर समस्त संसारको अनित्य समझता है; जो इस लोकमें विषयकी प्राप्तिको कठिन और दुःखकी प्राप्तिको सहज समझता है; जो सब प्रकारके व्यवहारोंको देखकर सब पदार्थोंको असार समझता है और परमार्थके लिये ही उद्योग करता है, वही मोक्ष पा सकता है । (महाभारत)

साधक